सम्पादकीय

जन विरोधी कृषि कानूनों के खिलाफ किसानों का अभूतपूर्व देशव्यापी संघर्ष

किसान विरोधी, जन विरोधी तीन काले कृषि कानूनों के खिलाफ किसान संगठनों का अभूतपूर्व ऐतिहासिक आन्दोलन, जो 26 नवम्बर को दिल्ली के सिंघू बॉर्डर से शुरू हुआ, अब गाजीपुर, टीकरी, शाहजहाँपुर और पलवल तक फैल गया है और उसे शुरू हुए डेढ़ महीने से ज्यादा समय बीत चुका है। आजादी के बाद की यह सबसे विराट, सबसे सुसंगठित किसान जत्थेबन्दी है। राजधानी दिल्ली के चारों ओर लाखों की संख्या में ट्रैक्टर-ट्राली और तम्बुओं में किसान शरण लिये हुए हैं और कड़कती ठण्ड, बारिश, कोहरे और शीतलहर के बावजूद इनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। मौसम की मार और कठिन परिस्थितियों के चलते अब तक इस आन्दोलन में 50 से भी ज्यादा किसान अपनी शहादत दे चुके हैं। इसके बावजूद किसानों के इरादे अडिग हैं। **यह आन्दोलन केवल दिल्ली की सरहदों तक सीमित नहीं है, बल्कि पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तराखण्ड और उत्तर प्रदेश के इन आन्दोलनकारियों के समर्थन में सुदूर केरल, कर्नाटक, ओडिसा, पश्चिम बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य प्रदेश सहित तमाम राज्यों के किसान भी उठ खड़े हुए हैं।**

5 जून 2020 को मोदी सरकार द्वारा कृषि कानूनों से सम्बन्धित अध्यादेश जारी किये जाने के बाद से ही देश के कई हिस्सों में किसानों का छिटपुट आन्दोलन शुरू हो गया था। 20 सितम्बर को उन अध्यादेशों को कानून में बदल दिये जाने के बाद किसान आन्दोलन और तेज हो गया। 25 अक्टूबर को दशहरे के दिन पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के लगभग 1,100 स्थानों पर रावण की जगह मोदी के पुतले जलाये गये। अब तक के इतिहास में यह अनोखी घटना है जब रावण के बदले किसी प्रधानमंत्री का पुतला फूँका गया हो। कई स्थानों पर पीएम मोदी के साथ-साथ बड़े सरमायेदार मुकेश अम्बानी और गौतम अडानी के पुतले भी जलाये गये जो आज किसानों की गाढ़ी कमाई को मुनाफे में बदलने और उनको जमीन से बेदखल करने के मंसूबों का प्रतीक बन गये हैं। अब तक लगभग 13,000 ग्राम पंचायतों ने इन तीन कृषि कानूनों के खिलाफ प्रस्ताव पारित किये हैं। किसानों ने मोदी, अडानी और अम्बानी के मुखौटे लगाकर अपने खेतों में बिजूखे खड़े कर दिये। पूरे पंजाब में किसानों ने रिलायंस मार्ट की दुकानों के शटर बन्द करवाये और लाखों की संख्या में जियो के सिम तोड़कर अपना विरोध प्रदर्शित किया। धान की कटाई और गेहूँ की बुआई के सबसे व्यस्त मौसम में भी किसानों का रेल रोको आन्दोलन लगातार जारी रहा।

किसान संगठनों के साथ दो चक्र की वार्ताओं से जब कोई नतीजा नहीं निकला तो नवम्बर के आखिरी सप्ताह में पंजाब के आन्दोलनकारी किसानों ने दिल्ली की ओर कूच किया। हरियाणा-पंजाब बॉर्डर पर किसानों को रोकने के लिए खट्टर सरकार ने सड़कें काटकर बड़ी खाइयाँ खोद दी। **लोहे और कंक्रीट के भारी-भरकम बैरिकेड, कंटीले तारों की बाड़, गटर से लाये गये गन्दे पानी की तेज बौछार, पुलिस की लाठियों और आँसू गैस के गोलों का अपने फौलादी इरादों से सामना करते हुए किसान ट्रैक्टर-ट्रालियों के काफिले के साथ दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर आ डटे और दिल्ली पुलिस के बैरिकेड को तोड़कर वहीं डेरा डाल दिया।** बर्बर दमन और आन्दोलनकारी किसानों को पुलिस के दम पर रोकने का सरकारी मनसूबा धरा का धरा रह गया। यह सारा भव्य दृश्य किसान संघर्षों के बेमिसाल इतिहास में दर्ज हो गया।

कोरोना माहामारी के दौरान "आपदा को अवसर में बदलने वाली" बेहया सरकार ने कोरोना काल में ही कृषि कानूनों को संसद में बहस कराये बिना पास करा दिया। लेकिन उन्हीं कानूनों के खिलाफ किसान आन्दोलन को रोकने के लिए सरकार ने कोरोना का बहाना बनाकर धरना-प्रदर्शन की अनुमति नहीं दी। कोरोना काल में ही भाजपा के नेता बड़ी-बड़ी चुनावी रैलियाँ करते रहे और हजारों बार महामारी कानून की धज्जियाँ उड़ाते रहे। सरकार के इस दो मुँहेपन और ढोंग-पाखण्ड का मुँहतोड़ जवाब किसानों ने दिया और कोरोना के भूत को पैरों तले रौंदते हुए, तमाम दमन-उत्पीड़न झेलते हुए आखिरकार 26 नवम्बर को राजधानी की सरहद पर अपना डेरा डाल दिया।

भाजपा और उसके समर्थकों ने इस आन्दोलन को धनी किसानों और व्यापारियों तथा सिर्फ पंजाब तक सीमित आन्दोलन बताकर बदनाम करने की कोशिश की। यह सही है कि आन्दोलन की शुरूआत पंजाब के किसानों ने की, लेकिन देखते ही देखते उत्तर प्रदेश, हरियाणा, उत्तराखण्ड, राजस्थान, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के किसानों के जत्थे दिल्ली बॉर्डर पर पहुँचने लगे। यही नहीं इस आदोलन के समर्थन में किसानों के विभिन्न तबके,

दलित-शोषितों और खेत मजदूरों के संगठन, गुरुग्राम की मजदूर यूनियनें, ट्रांसपोर्टर यूनियन, कर्मचारी संगठन, छात्रों-नौजवानों के संगठन, महिला संगठन और जाने-माने खिलाड़ी, गायक, कलाकार, बुद्धिजीवी, साहित्यकार और पत्रकार भी आकर खड़े होने लगे। इसी दौरान ख्यातिलब्ध कृषि वैजानिक, डॉक्टर वरिन्दर पाल सिंह ने केन्द्रीय रासायन और उर्वरक मंत्री के हाथों पुरस्कार लेने से इनकार कर दिया और कहा कि जब सरकार किसानों को अनावश्यक कष्ट पहुँचा रही है तो मेरी अन्तरात्मा मुझे पुरस्कार लेने से रोक रही है। पंजाबी भाषा के वरिष्ठ कवि सुरजीत पात्तर ने किसान आन्दोलन के समर्थन में पद्म पुरस्कार लौटाने की घोषणा की। इसी के साथ-साथ अनेक खिलाड़ियों और पूर्व सैनिकों ने भी अपने मैडल लौटाने की घोषणा की। अलग-अलग पेशों से जुड़े लोगों के संगठनों, पूर्व प्रशासनिक अधिकारियों के संगठनों और सर्वोच्च न्यायालय की बार ऐसोशिएशन ने भी किसानों को समर्थन दिया। **इस तरह किसान आन्दोलन ने जल्द ही देशव्यापी जनआन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया और इसे "सिर्फ पंजाब के धनी किसानों का आन्दोलन" कहकर बदनाम करने वालों को व्यवहार के जरिये करारा जवाब मिल गया।**

भाजपा के सांसदों, विधायकों और मंत्रियों तक ने आन्दोलनकारी किसानों को खालिस्तानी, पाकिस्तानी, आतंकवादी और देशद्रोही कहकर बदनाम करने की भरपूर कोशिशें कीं। गोदी मीडिया ने भी दिन-रात किसानों के खिलाफ जहर उगला, उनको पिज्जा-बर्गर खाने वाले, पिकनिक मनाने आये, अंग्रेजी बोलने वाले, फैशनपरस्त बताते हुए यह प्रचारित किया कि ये लोग किसान हो ही नहीं सकते। **दरअसल सरमायादारों और उनके नुमाइन्दों को ही नहीं बल्कि खाये-अघाये पत्रकारों, कलाकारों, चित्रकारों, फिल्मकारों, गीतकारों और उनके योजनाकारों, सिपहसालारों, पेज थ्री के चमकदारों, यानी हर तरह के मुफ्तखोरों को बदहाली के शिकार आत्महत्या करते किसानों की छवि बहुत ही भावपूर्ण और मनभावन लगती है। वे उनके ऊपर अपनी-अपनी प्रतिभा की छटा बिखेर कर धन कमाते हैं और इनाम पाते हैं। लेकिन वही किसान जब अपने हक की लड़ाई लड़ने के लिए उठ खड़ा होता है तो उन परजीवियों के दिमाग में आदर्श किसान की वह बनी-बनायी छवि बिखर जाती है।** उन्हें लगता है कि कोई खाता-पीता, साफ कपड़े पहना और समझदारी की बात करने वाला व्यक्ति भला किसान कैसे हो सकता है।

किसी भी आंदोलन को बदनाम करने और आन्दोलनकारियों का हौसला पस्त करने के लिए कुत्सा प्रचार और चरित्र हनन करना भाजपा नेताओं, गोदी मीडिया और भाजपा आईटी सेल की आजमायी हुई चाल है जो एनआरसी-सीएए आन्दोलन से लेकर हर जनआन्दोलन पर आजमाया जाता रहा है। लेकिन किसान आन्दोलन के खिलाफ उनका यह दाँव उलटा पड़ गया। किसान नेताओं, कार्यकर्ताओं और यहाँ तक कि आम किसानों और उनके समर्थकों ने भी उनके झूठ का पर्दाफाश किया और सोशल मीडिया के जरिये लोगों को गुमराह होने से बचाया। इस दौरान जन पक्षधर समानान्तर मीडिया का जितनी तेजी से विकास हुआ है वह अभूतपूर्व है। **मुख्यधारा की मीडिया के दुश्प्रचार और झूठ-फरेब का मुकाबला करने के लिए हजारों की संख्या में समाचार वेबसाइट और यू ट्यूब चैनल किसान आन्दोलन के समर्थन में आगे आये हैं और कुल मिलाकर उनके दर्शकों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गयी है। जन मीडिया का यह उभार इस आन्दोलन की बहुत बड़ी कामयाबी और खासियत है।**

हरियाणा की खट्टर सरकार किसान आन्दोलन को दबाने के लिए बर्बरता की सारी हदें पार कर गयी और आज भी किसानों के काफिले पर आँसू गैस के गोले और लाठियाँ बरसा रही है। साथ ही खट्टर सरकार ने एक बेहद कुटिल और घृणित चाल चली। उसने सतलज-यमुना पानी के बँटवारे का दबा मुद्दा उखाड़ा और अपने कार्यकर्ताओं को हरियाणा के प्रमुख शहरों में धरने पर बैठाया ताकि हरियाणा और पंजाब के किसानों में वैमनस्य और फूट पैदा की जाये। लेकिन हरियाणा के किसानों ने अपनी जवाबी कार्रवाई में एक ही दिन में उस फर्जी आन्दोलन की हवा निकाल दी। हरियाणा के किसानों ने "पंजाब-हरियाणा भाईचारा जिन्दाबाद" का नारा दिया और पहले से भी ज्यादा जोशो-खरोश के साथ आन्दोलन में शामिल हो गये जबकि किसान आन्दोलन के नेताओं और उनके समर्थक मीडिया कार्यकर्ताओं ने "फूट डालों राज करो" की इस कुटिलता का जमकर भण्डाफोड़ किया।

इस आन्दोलन में भारी पैमाने पर महिलाओं की भागेदारी इसकी बहुत बड़ी खासियत है, जो आन्दोलन के मंच और सोशल मीडिया चैनलों पर कृषि कानून के खिलाफ और आन्दोलन के समर्थन में प्रभावशाली ढंग से अपनी बात रखती हैं। साथ ही वे धरना स्थल के प्रबन्धन में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती हैं। इनमें ऐसी किसान कार्यकर्ता महिलाएँ भी हैं जो लम्बे समय से किसान संगठनों में सक्रिय भूमिका निभाती आ रही हैं।

किसान आन्दोलन के केन्द्र में, यानी अलग-अलग धरना स्थलों पर जो शानदार इतिहास रचा जा रहा है उससे कहीं ज्यादा परिधि पर घटित हो रहा है। गाँव-गाँव में किसान कानूनों पर चर्चा हो रही है, आन्दोलन के लिए चन्दा जुटाया जा रहा है, अपने परिवार और बाल-बच्चों समेत लोग झुण्ड के झुण्ड पूरे जोशो-खरोश में आन्दोलन में शामिल होने के लिए निकल रहे हैं। पंजाब के गाँवों में शादी में गाये जाने वाले गिद्धा लोक-गीतों में भी आन्दोलन के समर्थन में बोल बोले जा रहे हैं। लोक मानस में यह आन्दोलन लोक पर्व का रूप ग्रहण कर चुका है और सृजनशीलता के नये द्वार खोल रहा है। बच्चे कविता, गीत और भाषण तैयार करके आन्दोलन के मंच से उनकी प्रस्तुति दे रहे हैं और आन्दोलन में इन्द्रधनुषी रंग भर रहे हैं। शहरों-कस्बों की सांस्कृतिक टोलियाँ और गाँवों के लोक गायक अपनी मण्डली के साथ गीत तैयार कर रहे हैं, जिनकी प्रस्तुतियाँ इस सर्द मौसम में गर्माहट और जोश भर रही हैं।

यह आन्दोलन इस मायने में भी पहले के तमाम किसान

आन्दोलनों से अलग है कि इसका नेतृत्व किसानों के किसी मसीहा के हाथ में, किसी चमत्कारी-नामधारी नेता के हाथ में नहीं है। पहले के आन्दोलन महेन्द्र सिंह टिकैट, ननजुंदा स्वामी, शरद जोशी के नाम से जाने जाते थे और उनका स्वरूप भी इलाकाई होता था। लेकिन मौजूदा किसान आन्दोलन किसान संगठनों के संयुक्त मोर्चे और समन्वय समिति के नेतृत्व में लड़ा जा रहा है। यह एकता लम्बे दौर की व्यवहारिक कार्रवाइयों के दौरान आपसी तालमेल, बहस-मुबाहिसे और आम सहमति के जरिये मजबूत हुई है जहाँ सामूहिक निर्णय और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के आधार पर काम होता है।

आन्दोलन की सभी विशेषताओं से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है इस आन्दोलन की माँग, जो इसे पहले के तमाम किसान आन्दोलनों से कहीं ज्यादा व्यापक और गहरा करार देती है। पहले के आन्दोलनों को हम 1990 के पहले और उसके बाद के चरण में, यानी नेहरू मॉडल और साम्राज्यवादी वैश्वीकरण या नवउदारवादी मॉडल के दौर में बाँटकर देखें तो पहले चरण में किसानों की माँगें, सरकारी नीतियों को लागू कराने की माँग के इर्द-गिर्द सीमित होती थी। 1990 के बाद निजीकरण, उदारीकरण की नयी आर्थिक नीतियाँ लागू होने के चलते खेती की लागत बढ़ती गयी। उस खर्च की पूर्ति के लिए किसानों पर कर्ज का बोझ बढ़ता गया और नकदी फसलों की कीमत दुनिया के बाजारों में उतार-चढ़ाव की भेंट चढ़ने लगी। यह वही दौर था जब अकाल या सूखे के चलते नहीं बल्कि अच्छी फसल होने के बावजूद सही कीमत न मिलने के चलते किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला शुरू हुआ। हालाँकि उस दौर में भी किसान आन्दोलन की माँग स्थानीय और तात्कालिक ही होती थी जैसे गन्ना, कपास या अन्य नकदी फसलों या गेहूँ-धान के समर्थन मूल्य बढ़ाने की माँग, बिजली बिल माफी या कर्ज माफी की माँग। किसान संगठनों के एजेण्डे में विश्व व्यापार संगठन के दबाव में बनने वाली साम्राज्यवादपरस्त नीतियों का विरोध अभी नहीं आया था। लेकिन **जून 2020 से शुरू हुए मौजूदा किसान आन्दोलन के एजेण्डे पर मोदी सरकार के तीन काले कानूनों को पूरी तरह रद्द किये जाने की माँग सर्वोपरी है। दरअसल विश्व व्यापार संगठन द्वारा प्रस्तावित खेती के कॉरपोरेटीकरण की टुकड़े-टुकड़े में बनायी गयी नीतियों को मोदी सरकार ने इन तीन काले कानूनों में मुकम्मिल तौर पर शामिल कर लिया।** किसान नेताओं ने यह बात स्पष्ट रूप से सामने रखी है कि यह खेती को कॉरपोरेट घराने के हवाले करने और किसानों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के जुए के नीचे जोतने की एकमुश्त और मुकम्मल नीति है। यही कारण है कि आन्दोलनकारी किसान इन कानूनों में सतही सुधारों के सरकारी प्रस्ताव को हर चक्र की वार्ता में ठुकरा चुके हैं और इन तीन काले कानूनों को पूरी तरह वापस लिये जाने की माँग पर अभी तक डटे हुए हैं।

दरअसल इन तीनों कृषि कानूनों को एक साथ मिलाकर ही इसके भावी खतरों को समझा जा सकता है। पहला कानून सरकारी मण्डियों और सरकारी खरीद की जगह निजी अनाज व्यापारियों को बढ़ावा देने वाला है। इसके रहते न्यूनतम समर्थन मूल्य का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। इसी साल खरीफ की फसलों की हालत यह थी कि मक्के का न्यूनतम समर्थन मूल्य 2150 रुपये प्रति क्विण्टल तय हुआ था जबकि मक्का 1200 से 1600 रुपये के बीच बिक रहा था और बाजरा भी अपने न्यूनतम समर्थन मूल्य 2150 रुपये की जगह 1300 से 1400 रुपये के बीच बिक रहा था। यही हाल काला चना, सोयाबीन और धान की कीमतों का भी था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कानून के बनने से कृषि उपज बाजार पर निजी पूँजीपतियों का एकाधिकार कायम हो जायेगा। दूसरा कानून ठेका खेती के जरिये किसानों को कॉरपोरेट के कब्जे में कर देगा और उनको जमीन से बेदखल करने की ओर ले जायेगा जबकि **तीसरा कानून जीने के लिए जरूरी कृषि उपजों की जमाखोरी, कालाबाजारी और सट्टेबाजी को बढ़ावा देता है और पहले से ही जर्जर खाद्य सुरक्षा को खतरे में डाल देता है। दरअसल यह तीसरा कानून ही देश की व्यापक जनता को किसान आन्दोलन के पक्ष में खड़ा होने के लिए प्रेरित करता है जिसके चलते अनाज की खरीद, भण्डारण, प्रसंस्करण और विपणन के ऊपर मुट्ठी-भर निजी पूँजीपतियों का एकाधिकार कायम करने वाला है।** इसके चलते पहले से ही भुखमरी के शिकार लोगों की थाली से चावल, दाल, खाद्य तेल और आलू-प्याज जैसी जरूरी चीजें भी गायब हो जाएँगी।

यह विडम्बना ही है कि कुछ जन पक्षधर कहे जाने वाले लोग किसान आन्दोलन का इसलिए विरोध कर रहे हैं कि यह कृषि उपज में अपने मुनाफे का हिस्सा बढ़ाने के लिए सम्पत्तिशाली किसानों की कॉरपोरेट पूँजी के खिलाफ मित्रतापूर्ण लड़ाई है। उनकी राय में मजदूर वर्ग का शोषण करने वाले किसानों की इस लड़ाई में हिस्सेदारी करना या समर्थन करना राजनीतिक रूप से गलत है। इसमें कोई दो राय नहीं कि किसान और मजदूर दो वर्ग, दो ऐतिहासिक श्रेणियाँ हैं जिनके बीच अन्तरविरोध भी निर्विवाद है। **इसमें भी कोई दो राय नहीं कि किसान एक मिश्रित समुदाय है जिसके अन्तर्गत कई वर्ग हैं। उनके अलग-अलग आर्थिक हित हैं और उनके बीच हितों का टकराव भी मौजूद है, उसके एक छोर पर भूमिहीन खेत मजदूर हैं तो दूसरे छोर पर बड़ी जोत वाले धनी किसान हैं और उनके बीच मध्यम, लघु और सीमान्त किसान हैं।** धनी किसान को छोड़कर बाकी सभी वर्गों की संख्या किसान आबादी का 90 प्रतिशत से अधिक है। धनी किसान की खेती मजदूरों पर निर्भर होती है जबकि मध्यम, लघु और सीमान्त किसान खुद अपने और अपने परिवार की मेहनत से खेती करते हैं। जाहिर है कि इन अलग-अलग किस्म के किसानों के आर्थिक हित एक समान नहीं है। पहले के किसान आन्दोलनों में यह आर्थिक बँटवारा ही किसानों की आन्दोलन में भागेदारी सुनिश्चित करता था। धनी किसानों का जोर उपज की कीमत बढ़ाने की माँग पर होता है,

जबकि बहुसंख्य सीमान्त और लघु किसानों का मसला कृषि लागत का महँगा होना और कर्जजाल में फँसना होता है। खेत मजदूर किसानों की ऐसी किसी भी माँग के साथ नहीं आते हैं क्योंकि उनको न तो लागत बढ़ने से परेशानी है और न ही समर्थन मूल्य ज्यादा होने से कोई लाभ होता है। लेकिन तीन काले कानूनों के खिलाफ मौजूदा आन्दोलन में उन सभी वर्गों के हित और उनकी माँगे एक हैं क्योंकि तीनों कानूनों को समग्रता में देखें तो यह सभी किस्म के किसानों, खेत मजदूरों और यहाँ तक कि गैर खेतीहर समुदायों के भी खिलाफ है। किसान आन्दोलन में सभी वर्गों और तबकों की बढ़चढ़कर भागीदारी और समर्थन का यही आर्थिक आधार है। लेकिन मौजूदा किसान आन्दोलन का विरोध करनेवाले जन पक्षधर बुद्धिजीवी चीजों को टुकड़े-टुकड़े में देख रहे हैं और संकीर्णतावादी गलती कर रहे हैं। वे भारतीय समाज की वर्गीय सच्चाई के एक अंश की समझदारी तो रखते हैं, लेकिन वे या तो भारत की जनता के साम्राज्यवादी उत्पीड़न को नहीं देखते या उसे कम करके आँकने की गलती करते हैं।

लेकिन इन बातों के अलावा भी किसान आन्दोलन के विरोध में खड़े लोगों के लिए कुछ असुविधाजनक सच्चाइयाँ हैं जो भारतीय समाज के ऊपर इतिहास द्वारा आरोपित हैं। मसलन हम एक ऐसे देश में जी रहे हैं जो पूँजीवाद के दौर में प्रवेश करने से पहले ही गुलाम हो गया था। यहाँ पूँजीवाद तब पैदा हुआ जब विश्व पूँजीवाद अपने जर्जर बुढ़ापे यानी साम्राज्यवाद के दौर में प्रवेश कर चुका था। तभी से हमारे देश की उत्पादक शक्तियों का विकास अंग्रेज उपनिवेशवादियों के स्वार्थ से संचालित होने लगा था जो इस राह में सौ-सौ रोड़े अटकाते थे। उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने वाले हमारे पूँजीवादी शासकों ने आजादी के बाद अपनी वर्गीय सीमाओं के चलते रेडिकल भूमि सुधार के बिना ही पूँजीवाद का एक अधकचरा रास्ता अपनाया। बौने विकलांग पूँजीवाद की यह परियोजना 1990 तक आते-आते ध्वस्त हो गयी। उसके बाद हमारे शासकों ने भी स्वावलम्बी आर्थिक विकास और आत्मनिर्णय के अधिकार को तिलांजली देकर एक ध्रुवीय वैश्विक अर्थव्यवस्था और अमरीकी चौधराहट के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ से आर्थिक उपनिवेश बनाने की एक विश्वव्यापी परियोजना के साथ नत्थी हो गये जो विश्व बैंक, मुद्रा कोष और आगे चलकर विश्व व्यापार संगठन द्वारा पूरी दुनिया पर थोपी गयी। 1991 की आर्थिक नीति से लेकर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की ढाँचागत समायोजन नीति, आयात विस्थापन नीति की जगह निर्यात केन्द्रित अर्थव्यवस्था बनाने की नीति और अब मोदी सरकार के दूसरे-तीसरे चरण के सुधार इसी सिलसिले की कड़ी हैं। इन तीन नये कृषि कानूनों के साथ ही श्रम कानूनों में बदलाव की भी यही पृष्ठभूमि है।

जो लोग इन ऐतिहासिक विकृतियों और विडम्बनाओं को ध्यान में रखे बगैर, भारतीय समाज की जटिलता को ध्यान में रखे बगैर, विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों की कसौटी पर विशुद्ध अवस्थिति अपना रहे हैं और मौजूदा किसान आन्दोलन को सिर्फ धनी किसानों का आन्दोलन और न्यूनतम समर्थन मूल्य की लड़ाई बताते हुए खारिज कर रहे हैं, वे दरअसल मोदी सरकार की इन नीतियों और खेती के कॉरपोरेटीकरण का चाहे-अनचाहे समर्थन कर हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है कि इन तीन कृषि कानूनों को एक साथ मिलाकर देखें तो यह समझना कठिन नहीं कि दरअसल यह आन्दोलन नवउदारवादी कृषि नीतियों के खिलाफ, देशी-विदेशी एकाधिकारी पूँजीपतियों के गठजोड़ के खिलाफ देश के मेहनतकशों की साझी लड़ाई है जिसका नेतृत्व आज किसान संगठनों के संयुक्त मोर्चे और सैकड़ों की संख्या में छोट-बड़े किसान संगठन कर रहे हैं।

इस आन्दोलन में शामिल ज्यादातर किसान यूनियनें काफी हद तक जनता के अपने और सच्चे संगठन की कसौटी पर खरी उतरती हैं। यही यूनियनें किसान मोर्चा और इस आन्दोलन की असली ताकत हैं जो तमाम स्वतःस्फूर्त और प्रायोजित आन्दोलनों से इन्हें अलग करती हैं, जैसे अन्ना हजारे का भ्रष्टचार विरोधी आन्दोलन या समय-समय पर लोकरंजक नारों के साथ शुरू हुए आन्दोलन। **किसान आन्दोलन के नेता, कार्यकर्ता, समर्थक, आर्थिक स्रोत सब उनके अपने जन समुदाय के बीच से आते हैं, जैसे कोई विशाल वृक्ष जमीन में गहराई से धँसी और फैली हुई अपनी मजबूत जड़ों से जीवन रस जुटाकर पोषित और पुष्पित-पल्लवित होता है। मुद्दे, माँगे, नारे, हिकमत अव्वल, हिकमत अमली सब कुछ सामूहिक आम सहमति से तय होते हैं, जैसे कोई जन संगठन अपनी कतारों के साथ मछली-पानी का रिश्ता हमेशा बनाये रखता है।** हालाँकि यह आन्दोलन 32 किसान यूनियनों के संयुक्त मोर्चे और लगभग 500 किसान संगठनों के समर्थन से चलाया जा रहा है लेकिन फिर भी उनमें न्यूनतम साझा कार्यक्रम के मुद्दे पर यानी तीनों काले कानूनों को पूरी तरह वापस लेने से कम पर कोई समझौता नहीं होगा, एक आम सहमति कायम है। इसी मामले में यह आजादी के बाद के किसी भी जन आन्दोलन से भिन्न है और अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

अब तक की नौ चक्र की वार्ताओं में सरकार की कुटिलता और झाँसापट्टी तथा आन्दोलनकारी किसानों के दृढ़ निश्चय को देखते हुए यह कहना मुश्किल है कि किसान आन्दोलन अपनी माँगें मनवाने में सफल होगा या नहीं। इस आन्दोलन को हार-जीत के वैकल्पिक वस्तुनिष्ठ प्रश्नों से आगे जाकर देखना जरूरी है। इस ऐतिहासिक, अपूर्व और अनोखे किसान आन्दोलन ने भारतीय समाज और जनमानस को झकझोर कर जगा दिया है, निराशा, पस्तहिम्मती और निष्क्रियता के कोहरे को चीरकर एक नयी उष्मा और प्रकाश से भर दिया है। इसने एक नये महाप्रस्थान की पूर्वपीठिका लिख दी है, इतिहास को त्वरान्वित कर दिया है। अब हमारा देश, समाज और जनगण वैसा ही नहीं रह पायेगा, वहीं ठहरा नहीं रहेगा जहाँ इस आन्दोलन के शुरू होने से पहले था।

कृषि कानून के चाहे-अनचाहे दुष्परिणाम

-- अमित भादुड़ी

प्लासी की निर्णायक लड़ाई जिसमें ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में अपना पैर जमाया और अपनी कम्पनी के शासन को स्थापित किया, उसमें हमारी हार युद्ध के मैदान में नहीं, बल्कि एक सेनापति के विश्वासघात के कारण हुई थी। एक अफ्रीकी कहावत ऐसी ही मनोवृति की चेतावनी देती है, "शेर की अगुआई में भेड़ों की एक सेना भेड़ की अगुआई वाली शेरों की सेना को हरा सकती है।" इस कहावत के पीछे का सच व्यापक है और यह न केवल युद्ध के मैदान पर, बल्कि कई आधुनिक सरकारों और लोकतांत्रिक नेताओं के ऊपर भी खरी उतरती है। एक गलत नेता, एक जहरीली विचारधारा, मूर्खतापूर्ण महत्त्वाकांक्षा या आनबान की झूठी भावना, ऐसा कहर ढा सकती है, जिससे बहुत ही कम समय में अकल्पनीय क्षति हो सकती है। और फिर, देश को उस नुकसान से उबरने में एक लम्बा समय लग सकता है।

इतिहास में उदाहरण भरे पड़े हैं। हिटलर और मुसोलिनी अभी भी स्मृति में बहुत दूर नहीं हैं। स्टालिन की लाल सेना ने नाजियों को हराया था, लेकिन साथ ही साथ शुद्धिकरण की उनकी नीति ने पूर्वी यूरोप की स्वतंत्र कम्युनिस्ट पार्टियों को कमजोर बना दिया। अब इस बात के दस्तावेजी प्रमाण मौजूद हैं कि आईएमएफ द्वारा प्रवर्तित और इसके कट्टर बाजारपंथी नेताओं द्वारा स्वीकृत जहरीली नीतियों ने विशाल प्राकृतिक संसाधनों वाले देश अर्जेण्टीना को दुनियाभर में भीख माँगनेवाला बना दिया। जहरीली विचारधारा के साथ झूठी भावना का मेल हो जाये तो यह किसी भी देश में विपत्ति लाने का अचूक नुस्खा बन जाता है। विकास की ऋणात्मक दर और अभूतपूर्व मन्दी, बढ़ते शेयर बाजार के साथ-साथ बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की मौजूदगी के साथ गौ हत्या पर प्रतिबन्ध लगाने और एक नेता के ऐतिहासिक महत्त्व के दिखावे के लिए एक केन्द्रीय विस्टा के निर्माण जैसी वैचारिक प्राथमिकताओं के साथ इस तरह मिला दिया जाना ऐसी ही विपत्ति की भविष्यवाणी कर रहा है। हालाँकि हम इस तथ्य के प्रति तभी जाग पाये जब राक्षस दरवाजे पर दस्तक दे रहा है, जब इस देश के किसानों ने देश को आईना दिखा दिया।

यदि आपने अपनी सारी बुद्धिमत्ता पहले से ही विशेषज्ञों की चर्चाओं और मुख्यधारा की मीडिया की छवियों के आगे समर्पित नहीं की है, तो आप परी कथा की तरह पूछ सकते हैं-- " आईना, दीवार पर लटके आईना, मुझे दिखाओ कि इन सब के पीछे कौन है।" और आईना सत्ताधारी पार्टी के दो सबसे शक्तिशाली नेताओं (दोनों गुजरात से) को ही नहीं, बल्कि दो अन्य चेहरों को, देश के दो सबसे अमीर व्यापारियों (ये दोनों भी गुजरात से) को भी दिखायेगा। अनुमान लगाने के लिए कोई पुरस्कार नहीं कि वे कौन हैं। दोनों का तभी से वर्तमान नेता के साथ पुराना याराना रहा है, जब वे गुजरात के मुख्यमंत्री थे।

हालाँकि, यह केवल याराना पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) का मामला नहीं है, जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं। हाल ही में एक मृतप्राय संसद के अन्दर बेहद जल्दबाजी में तीन कृषि कानूनों को पारित किया जाना कोई अपवाद नहीं, बल्कि पहले से निर्धारित प्रवृत्ति के अनुरूप है। सरकार ने बार-बार ऐसा किया है, लेकिन इस प्रवृत्ति की शुरुआत जनता को तैयारी का कोई मौका दिए बगैर किसी बमबारी की तरह हुई थी। पहले यह विमुद्रीकरण के गुरिल्ला हमले से शुरू हुई और फिर, जीएसटी के रणनीतिक रूप से खराब क्रियान्वयन से हुई, जिसने छोटे और निर्बल व्यवसायियों और हमारे संघीय वित्तीय ढाँचे में राज्यों को कमजोर कर दिया। इसके बाद यही काम उन प्रवासी कामगारों के साथ किया गया, जब 4 घण्टे के नोटिस पर बेहद सख्ती से तालाबन्दी लागू करके उनकी जिन्दगी और आजीविका को निर्ममतापूर्वक जड़ से उखाड़ दिया गया था। बेचैनी, बदहाली और मुसीबत टूट पड़ी थी, लेकिन जनता की प्रतिक्रिया अभी भी ऐसी नहीं थी, जैसे उन पर अत्याचार हुआ हो। यह भ्रम कि सरकार काले धन के खिलाफ लड़ेगी (15 लाख रुपये के वादे को तो भूल ही जाओ) और आसन्न महामारी के नाम पर भयानक तालाबन्दी लगाये जाने के बावजूद अभी भी सीधी-सादी जनता में कुछ विश्वसनीयता बची हुई थी। तब हम सब यह जानने से नहीं बच पाये कि महामारी की आड़ में किस तरह संसदीय लोकतंत्र के भीतर से ही उसके सारतत्व को कैसे खोखला किया जा रहा था। श्रम-विरोधी और कॉर्पोरेट-हितैषी श्रम कानूनों की एक शृंखला को दरअसल बिना किसी पूर्व सूचना और विचार-विमर्श के पारित कर दिया गया था। और अब सरकार ने तीन कृषि कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू करने की एक सोची-समझी चाल चली। उसे संसद के अन्दर या बाहर किसी प्रतिरोध का भी कोई डर नहीं था, क्योंकि महामारी के आवरण तथा

ऋणात्मक विकास और जानलेवा बेरोजगारी वाली एक ध्वस्त अर्थव्यवस्था में अधिकांश लोग पस्ती के शिकार थे और प्राणवायु के लिए हाँफ रहे थे।

बहुत संक्षेप में, इन तीनों कानूनों का मकसद मण्डी प्रणाली और कृषि उपज के न्यूनतम समर्थन मूल्य को समाप्त करना है। और, यह एक सामान्य हित की बात है जिसको मुख्यधारा का मीडिया अक्सर बहुत कम महत्त्व देता है, वह यह कि इन कानूनों का मकसद सरकार को एकपक्षीय शक्ति देकर विवाद के किसी भी मामले में सभी सामान्य कानूनी प्रक्रियाओं को लगभग खत्म कर देना है। यह विवादों को निपटाने की शक्ति कार्यपालिका को हस्तान्तरित करेगा जिसमें न्यायपालिका की कोई भूमिका नहीं होगी। कानून में हितों के सम्भावित टकराव की सभी धारणाओं का उल्लंघन करते हुए, कथित अपराधी ही अपराध की प्रकृति का निर्णय करेगा। इस तरह का कानून हमारी लोकतांत्रिक संसद द्वारा जल्दबाजी में पारित किया गया, जिसमें न केवल किसानों के अधिकारों को खत्म किया गया, बल्कि सभी भारतीय नागरिकों के अधिकारों के लिए भयावह है।

किसान इसके खिलाफ उठ खड़े हुए। वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए और अब यह सभी भारतीय नागरिकों के व्यापक संवैधानिक अधिकारों के साथ भी जुड़ गया है। भारत का पस्तहिम्मत गरीब तबका अचानक उस गम्भीर खतरे से अवगत हो गया है, जो उनकी आँखों में घूर रहा है। कृषि का कॉर्पोरेटीकरण भारतीय लोकतंत्र के, हमारे संवैधानिक अधिकारों के कॉर्पोरेटीकरण की एक पूर्वपीठिका है।

व्यवस्था पोषित अर्थशास्त्रियों को उनके विशेषज्ञ ज्ञान के चलते नहीं, बल्कि उनके शब्दजाल में निहित अप्रासंगिक अर्धसत्य के लिए जाना जाता है। मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा प्रचारित, उनके तर्क की आधारशिला यह है कि, एक मुक्त लोकतंत्र को एक मुक्त बाजार की आवश्यकता होती है। कृषि कानूनों ने यह सवाल सामने ला दिया है-- क्या यह एक लोकतंत्र है जहाँ कार्यपालक ही न्यायाधीश भी है। क्या यह एक मुक्त लोकतंत्र की नयी परिभाषा है? और फिर, वह बाजार मुक्त कैसे है, जहाँ मोलभाव करनेवाले किसी छोटे या सीमान्त किसान का सामना अम्बानी या अडानी महाशय से होता हो? यह मानक आर्थिक सिद्धान्त का एक बुरी तरह तैयार किया गया गुप्त रहस्य है जिसमें कीमत तंत्र तब तक काम नहीं करता है जब तक कि बाजार में सभी खरीदार और विक्रेता प्रचलित मूल्य को स्वीकारने वाले न हों। इसका मतलब है कि कीमतें तय करने वाली बाजार की ताकत किसी के पास नहीं है। उच्च शक्ति वाले सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त को वोल्तेयर के भगवान की तरह किसी बेपरवाह 'नीलामकर्ता' का आविष्कार करना पड़ेगा, जो बाजार खाली करनेवाली कीमतों पर माल खरीने के लिए कीमतों को निर्धारित और संशोधित कर सके। अपनी तमाम खामियों और भ्रष्टाचारों के बावजूद, न्यूनतम समर्थन मूल्य ही हमारे लिए किसी 'नीलामीकर्ता' द्वारा निर्धारित सबसे करीबी कीमत है। किसान चाहते हैं कि इसे एक कानून के रूप में सुनिश्चित किया जाये; सरकार ऐसा नहीं करना चाहती है क्योंकि वह चाहती है कि जितनी जल्दी हो सके बड़े निजी व्यापारियों को फसल का भाव तय करने का सुअवसर मिले, क्योंकि नये कृषि कानूनों के रहते, चाहे इनमें कोई संशोधन हो या न हो, मौजूदा मण्डी प्रणाली का तबाह होना तय ही है। यही वह मुक्त बाजार तंत्र है जिसका मुख्यधारा के अर्थशास्त्री गुणगान करते हैं, जिसके ऊपर मुख्यधारा के मीडिया में तथाकथित विशेषज्ञों की बहस करायी जाती है जिसको बड़े पूँजीपति वित्तपोषित करते हैं। और इसी बीच, अम्बानी महाशय की रिलायंस कम्पनी ने कृषि उत्पादों के खुदरा बाजार पर अपना निशाना साधा है और जियो सभी कॉर्पोरेट ऑन-लाइन थोक खरीद को नियंत्रित करेगी, जबकि अडानी महाशय कृषि उपज के भण्डारण के लिए कॉर्पोरेट परिवहन और साइलो के अपने नेटवर्क का विस्तार करने में व्यस्त हैं। सरकार 5-जी के सहारे डिजीटल पूँजीवाद के भविष्य को लेकर बेहद उत्साहित है, जिसे भारत में जियो द्वारा नियंत्रित किया जाएगा। क्या कोई राहत, कोई वैकल्पिक मार्ग सम्भव है?

किसान हमें दिखा रहे हैं कि निराशावाद में फँसे हम सभी लोग कितने गलत थे। चीजें बदलती रहती हैं, लेकिन हमेशा उसी तरह से नहीं, जैसा मुट्ठीभर धनिकतंत्री सत्ताधारी और उनके चाटुकार चाहते हैं। अगर अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद आम लोग एकजुट हो जाते हैं और विपक्षी राजनीतिक दलों को कम से कम इस मुद्दे पर एकजुट होने के लिए मजबूर कर देते हैं, जिनके पास न तो स्पष्ट रूप से गरीब समर्थक विकास का कोई रोड मैप होता है और न ही उनमें इतना साहस होता है कि वे इस यंत्रीकृत कॉर्पोरेट खेती को सोने की खान बतानेवालों की झाँसापट्टी का विरोध कर सकें। किसानों के दृढसंकल्प प्रतिरोध ने अनिवार्य परिस्थितियों का निर्माण किया है। हम सभी को साहसपूर्वक इसमें शामिल होना है। यह इस कथन में निहित इस बुद्धिमत्ता की याद दिलाता है-- "आदमी (और औरतें) इतिहास बनाते हैं, लेकिन खुद अपनी बनायी परिस्थितियों में नहीं (प्लेखानोव)।" परिस्थितियाँ निर्मित हो गयी हैं। अफ्रीकी कहावत का शेर अभी भी भेड़ की उस सेना की अगुआई करता रह सकता है जो कभी एक अजेय दुश्मन की तरह दिखाई देता था।

(अमित भादुड़ी जानेमाने अर्थशास्त्री हैं, जो वर्तमान में पाविया विश्वविद्यालय, इटली में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चयनित प्रोफेसर हैं और काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेण्ट, दिल्ली विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफेसर हैं। फ्रन्टियर वीकली से साभार, अनुवाद -- दिगम्बर।)

नये श्रम कानून मजदूरों को ज्यादा अनिश्चित भविष्य में धकेल देंगे

-- माया जॉन

संसद में तीन नये श्रम कानून पारित किये गये हैं जो पहले से चले आ रहे 25 श्रम कानूनों की जगह लेंगे। इन तीनों कानूनों का मेल आधिकारिक तौर पर उन श्रम कानूनों के अन्त का प्रतीक है जो हमने बीसवीं सदी के ज्यादातर हिस्से में देखे हैं।

ये कानून पहले से मौजूद उन चौखटों को पूरी तरह बदल देते हैं जिनका इस्तेमाल श्रम कानूनों के अमल के दायरे को तय करने के लिए किया गया था, जैसे किसी प्रतिष्ठान में काम करने वाले लोगों की संख्या। उदाहरण के लिए नया औद्योगिक सम्बन्ध कानून 300 मजदूरों तक के प्रतिष्ठान को सरकार की पूर्व अनुमति के बिना मजदूरों को बर्खास्त करने और छँटनी करने या प्रतिष्ठान को बन्द करने का अधिकार देता है। पहले यह सीमा 100 मजदूरों की थी। इस बदलाव ने मध्यम आकार के अधिकतर उद्यमों में काम करने वाले मजदूरों की भारी संख्या को औद्योगिक विवाद कानून के दायरे से बाहर कर उन्हें मालिकों की मर्जी पर छोड़ दिया है।

इसी तरह ये कानून साफ तौर पर फैक्ट्री अधिनियम, 1948 को लागू करने के चौखटे को बढ़ाकर दोगुना कर देते हैं, जैसे बिजली से चलने वाले प्रतिष्ठानों के मामले में मजदूरों की संख्या 10 से बढ़ाकर 20 और बिना बिजली के चलनेवाली इकाइयों के मामले में मजदूरों की संख्या 20 से बढ़ाकर 40 मजदूरों तक कर दी गयी है।

औद्योगिक रोजगार (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1946 के अनुसार कम से कम 100 मजदूरों वाले किसी प्रतिष्ठान के लिए रोजगार की दशा को औपचारिक रूप से स्पष्ट करना लाजमी था, यहाँ तक कि इस तय सीमा को भी 300 मजदूरों तक बढ़ा दिया गया है। पेशेगत सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्य की परिस्थिति कानून में बदलाव करते हुए ठेके पर रखे गये मजदूरों की सीमा को 20 से बढ़ाकर 50 कर दिया गया है और कोर क्षेत्रों समेत उत्पादन के सभी क्षेत्रों में ठेका मजदूरों को काम पर रखने की अनुमति दे दी गयी है।

वास्तव में नये श्रम कानून टुकड़े-टुकड़े में की जाने वाली उन सरकारी कोशिशों को कानूनी रूप से एक में समेट देते हैं जिनके जरिये राज्य सरकारें श्रम सम्बन्धी समवर्ती सूची में उन्हें दिये गये अधिकारों के तहत प्रमुख श्रम कानूनों में कटौती करती रही हैं। कई राज्यों द्वारा औद्योगिक विवाद अधिनियम, कारखाना अधिनियम, औद्योगिक रोजगार अधिनियम आदि में समय-समय पर संशोधन किये गये। इसके साथ ही विदेशी और घरेलू निवेश को लुभाने के लिए राज्य और केन्द्र दोनों स्तरों पर बहुत से कार्यकारी आदेश परित किये गये। संशोधनों और आदेशों के इस दलदल से सभी अच्छी तरह वाकिफ हैं।

बेशक, ज्यादातर संशोधन दो खास चीजों पर केन्द्रित रहे हैं, जिनमें से एक है कि लघु और अतिलघु औद्योगिक प्रतिष्ठानों में नियोक्ताओं को यह छूट मिल जाये कि वे अपने प्रतिष्ठानों में श्रम कानून लागू करने को खुद ही प्रमाणित कर सकें। दूसरी यह है कि इन प्रतिष्ठानों को महत्त्वपूर्ण श्रम कानूनों के दायरे में आने से ही छूट मिल जाये। 2014 में, श्रम कानून (अनिवार्य प्रतिष्ठानों को आय का ब्यौरा देने और लिखित जानकारी रखने से छूट) अधिनियम में ''छोटे'' प्रतिष्ठानों की परिभाषा को बदलने के लिए संशोधन किया गया था, जिससे कानून में दी गयी मूल परिभाषा से ज्यादा संख्या में मजदूरों को रोजगार देने वाली इकाइयों को भी इस दायरे में लाया जा सके। अब, नये श्रम कानूनों के साथ केन्द्रीय अधिनियमों में ही संशोधन करके बड़े प्रतिष्ठानों के मजदूरों को कानून द्वारा दी गयी सुरक्षा वापस ले ली गयी है।

असल मायनों में, नये श्रम कानूनों में श्रम-पूँजी के रिश्तों की एक मिसाल को आम बना देने पर जोर दिया गया है, जो राज्य की दखलन्दाजी कम करने या कानूनों में ढील देने और दोतरफा औद्योगिक रिश्तों पर इसके स्वाभाविक प्रभाव पर आधारित है।

महत्त्वपूर्ण रूप से, कानूनों में ढील देने की इस मिसाल को ठोस आकार दे देना श्रम की उन शुरुआती औपनिवेशिक अनिश्चित स्थितियों जैसी, कहीं अधिक क्रूर स्थितियों की ओर ले जाने वाले एक कानूनी बदलाव पर मुहर लगा देता है, जिनमें राज्य यह तर्क देते हुए कि मालिक और मजदूर के बीच का सम्बन्ध निजी मामला है, मालिक और मजदूर के बीच के सम्बन्धों के बारे में कानून बनाने से बचते हैं। पूरी दूनिया के साथ-साथ भारत में भी

सामूहिक श्रम के तेजी से बढ़ते ऐतिहासिक संघर्षों के चलते श्रम और पूँजी के रिश्तों में राज्य का शामिल होना 1920 के दशक से ही एक कायदा बन गया था जिसके नतीजे के तौर पर विवादों को हल करने के लिए एक तीन तरफा (मालिक, मजदूर और राज्य) औद्योगिक तंत्र बना जो 1990 के दशक की शुरुआत में आये उदारीकरण के युग तक कायम रहा।

हालाँकि, एक के बाद एक आने वाली सरकारें तत्कालीन औद्योगिक सम्बन्धों के नियमन से तेजी से पीछे हटती गयीं। इसके साथ ही कार्यस्थल के मामले को एक निजी मामले तक गिरा देने की माँग की जाने लगी, जिसमें नियोक्ता एकतरफा ढंग से मजदूरी तय करने, ओवरटाइम करवाने, मनमर्जी से छुट्टियाँ देने, मुआवजा तय करने, जब चाहे भर्ती करने और जब चाहे निकाल देने जैसे फैसलों के लिए ज्यादा ताकत हासिल कर सके। कार्यस्थल पर आते ही मजदूर पूरी तरह नियोक्ता की मुट्ठी में होने चाहिए। यह देखते हुए कि श्रम के निरीक्षण का काम नियोक्ता द्वारा खुद ही अपने काम को सही ठहरा लेने की व्यवस्था के तहत आ गया है और नियोक्ता ही जाँच करने वाला तीसरा पक्ष बन गया है तो अधिकतम सम्भावना यही है कि श्रम कानूनों को लागू करने के साथ-साथ नियोक्ताओं की निजी ताकत बढ़ेगी। इसके अलावा, मजदूरों के गुस्से को शान्त करने के लिए मालिकों के खिलाफ आपराधिक कानून ढाँचे का इस्तेमाल करने के जरिये होने वाली राज्य की दखलन्दाजी पर रोक लग जायेगी। यह प्रवृत्ति पहले ही बढ़ती जा रही है।

कानून कमजोर कर देने का फौरी नतीजा यह होगा कि कार्य सम्बन्धों की बेहद दमनकारी मिसालें जो असंगठित क्षेत्र में प्रभावी हैं वे सभी जगह लागू हो जायेंगी। असंगठित क्षेत्र जहाँ मजदूर वर्ग के ज्यादातर पुरुष और महिलाएँ सघन श्रम के निचले पायदान के कामों को कर रहे हैं, वहाँ राज्य की गैरमौजूदगी ने काम के अनुबन्ध के मामले में नियोक्ताओं के हाथ में जजों की तरह फैसलाकुन ताकत दे रखी है। अब, लाजमी तौर पर अनुबन्ध के सम्बन्ध में नियोक्ताओं की ऐसी बढ़ी हुई निजी ताकत संगठित क्षेत्र के बड़े हिस्से में भी नियम बन जायेगी।

श्रम बाजार के ऊपरी पायदानों पर हुए इस ठोस हमले का निचले पायदानों पर भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा, जहाँ असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को हद से ज्यादा भारी पैमाने के शोषण का सामना करना पड़ेगा। इसमें कोई शक नहीं कि ज्यादा कुशल मजदूरों की समय-समय पर होने वाली छँटनी से असंगठित क्षेत्र के कम कुशल कामों में भीड़ बढ़ेगी। इसके बाद, मौजूदा असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को अपना अस्तित्व बचाने के लिए दिहाड़ी कम करने, लम्बे समय तक काम करने, काम की मात्रा बढ़ाने आदि के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

श्रम कानूनों को तेजी से कमजोर किये जाने की जड़ में मजदूर आन्दोलन को लगातार गैरकानूनी ठहराया जाना है। इसने श्रम की सामूहिक ताकत को इतना कमजोर कर दिया है कि वह कल्याणकारी कानून लागू करवाने में असमर्थ है। इस प्रकार इसने सामाजिक सुरक्षा के कथित विस्तार को ऐसी चीज बना दिया है जिसे मजदूरों का बड़ा हिस्सा कभी हासिल नहीं कर सकता।

अनुवाद -- प्रवीण कुमार

(यह लेख 15 अक्टूबर 2020 को अंग्रेजी दैनिक ''इण्डियन एक्सप्रेस'' में छपा था। इसकी लेखिका ''माया जॉन'' दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं और एक मजदूर इतिहासकार भी हैं।)

जब ट्रम्प समर्थकों ने कैपिटल हिल पर कब्जा कर लिया

नये साल की शुरुआत में डोनाल्ड ट्रम्प के समर्थकों ने अमरीकी कैपिटल हिल पर कब्जा कर लिया, जहाँ अमरीका की संसद, हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स और सुप्रीम कोर्ट स्थित है। वे हथियारों के साथ आये, सांसदों को बाहर खदेड़ दिया और तोड़-फोड़ किया।

कैपिटल हिल में बाइडेन के राष्ट्रपति बनने पर मुहर लगाने की तैयारी चल रही थी, जो इस बार राष्ट्रपति चुनाव में ट्रम्प को हराकर विजयी हुए थे, लेकिन हम जानते हैं कि ट्रम्प हारने के बाद भी पद छोड़ने के लिए तैयार नहीं दिख रहे थे। उनके उकसाने पर हजारों की संख्या में समर्थकों ने वॉशिंगटन में मार्च निकाला और कैपिटल हिल पर धावा बोल दिया। वे ट्रम्प को सत्ता में बनाये रखने के लिए दोबारा वोटों की गिनती करवाने की माँग कर रहे थे। इस नजारे ने तथाकथित सबसे पुराने लोकतांत्रिक देश को हास्यास्पद स्थिति में ला दिया।

प्रशासन के साथ टकराव में कुछ व्यक्ति मारे भी गये और 15 दिन की इमरजेंसी की घोषणा भी करनी पड़ी। इस घटना की खबर पूरी दुनिया में आग की तरह फैल गयी और ब्रिटिश प्रधानमंत्री बोरिस जॉनसन, कनाडाई प्रधानमंत्री जस्टिन ट्रूडो समेत अन्य कई राष्ट्रप्रमुखों ने इसकी निन्दा की और उन्होंने इसे इतिहास का काला दिन कहा।

मोदी के शासनकाल में बढ़ती इजारेदारी

-- रविकान्त

मुकेश अम्बानी और कुछ मुट्ठीभर अरबपतियों ने राजनीतिक साँठ-गाँठ से चलने वाले इस पूँजीवाद को मोदी शासन के दम पर अपने हाथों का खिलौना बना लिया है।

एक बार जॉन डी रॉकफेलर ने कहा था, "खुद कुछ न होते हुए भी सब कुछ नियंत्रित किया जा सकता है।" यह, पिछली शताब्दी के सबसे अमीर व्यक्ति के पीछे का दर्शनशास्त्र था। आधुनिक एकाधिकार के सिद्धान्तों को अमल में लाने वाला वह पहला व्यक्ति था। आपसी प्रतिस्पर्धा के इतर रॉकफेलर बड़े-बड़े निगमों के आपसी साँठ-गाँठ का पक्का समर्थक था।

रेलमार्गों, तेल रिफाइनरी और चुनाव जीतकर आये भ्रष्ट नेताओं के निजी गठजोड़ के चलते उसने अमरीका में बेतहाशा सम्पत्ति और ताकत इकट्ठा कर ली थी। उसने बड़े पैमाने पर फैले एकाधिकार और उत्पादक संघों के जरिये व्यक्तिगत रूप से चलने वाले व्यवसायों को बेरहमी से खत्म कर दिया था।

उसकी कम्पनी स्टैण्डर्ड ऑयल तो खैर डूब गयी जिसने अमरीका के एण्टीट्रस्ट नियमों को जन्म दिया, लेकिन उसकी सोच एक विचारधारा का रूप ले चुकी थी और वह बहुत से व्यापारियों के लिए एक आदर्श साबित हुई जिसके अनुसार पैसा बनाने के लिए कोई नयी खोज करने के बजाय बने बनाये नियमों को अपने पक्ष में कर लेना अधिक आसान रास्ता है।

मुकेश अम्बानी रॉकफेलर के नक्शे-कदम पर चलने वाला एक ऐसा ही पूँजीपति है।

2019 में हर महीने भारत में तीन नये अरबपति शामिल हुए जबकि बचे हुए अधिकतर दुनिया के देश उस समय आर्थिक मन्दी के शिकार थे। भारत में अरबपतियों की कुल संख्या चीन और अमरीका के बाद सबसे अधिक 138 तक पहुँच गयी है।

निः सन्देह, मुकेश अम्बानी भारत का सबसे अमीर व्यक्ति है। और इस साल उसने 80.2 अरब डॉलर की कुल सम्पत्ति के साथ जैफ बेजोस (187 अरब डॉलर), बिल गेट्स (121 अरब डॉलर) और मार्क जुकरबर्ग (102 अरब डॉलर) के बाद पूरी दुनिया के चौथे सबसे अमीर व्यक्ति बनने की होड़ में यूरोप के सबसे धनी व्यक्ति बेनार्ड आरनॉल्ट को भी पछाड़ दिया है।

दिलचस्प बात यह है कि ब्रिक्स (ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका) और सभी विकासशील देशों में से 10 सबसे अमीर लोगों की सूची में आने वाला वह अकेला ऐसा पूँजीपति/व्यापारी है। अनोखी उपलब्धि, लेकिन फोर्ब्स पत्रिका के अनुसार प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की सरकार के सत्ता में आने से पहले 18.6 अरब डॉलर की कुल सम्पत्ति के साथ वह दुनिया का चालीसवाँ सबसे धनी व्यक्ति था।

यह छह सालों में एक लम्बी छलांग है। गजब की बात यह कि उसकी सम्पत्ति में 22 अरब डॉलर की बढ़ोत्तरी इसी साल हुई है, बावजूद इसके कि देश एक बेहद गम्भीर मन्दी का सामना कर रहा है। हालाँकि इसमें कोई संशय नहीं है कि अम्बानी की सम्पत्ति में इतनी अधिक बढ़ोत्तरी कोई सामान्य बात तो नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि इस अकूत सम्पत्ति के इतनी तेजी से बढ़ने का कारण क्या है? कोई नयी तकनीक अथवा राजनीतिक साँठ-गाँठ से चलने वाली चरम पूँजीवादी व्यवस्था?

पिछले कुछ दशकों में यदि भारत की अर्थव्यवस्था चीन की अर्थव्यवस्था जितनी तेजी से विकसित नहीं हो पायी तो इसका मुख्य कारण केवल नयी तकनीक और उत्पादकता की कमी है। असल में तो भारत ग्लोबल इनोवेशन इण्डेक्स (वैश्विक नवाचार सूचकांक) की श्रेणी में बहुत नीचे है। हाल ही में आयी वैश्विक बौद्धिक सम्पदा संगठन (डब्ल्यूआईपीओ) की एक रिपोर्ट के अनुसार ग्लोबल इनोवेशन इण्डेक्स (जीआईआई) में भारत 48वें पायदान पर है।

हालाँकि, भारत में अंग्रेजी बोलनेवाले लोग बड़ी संख्या में हैं, जो लम्बे समय तक उत्पादन पर टिकी अर्थव्यवस्था से दूर ही रहे हैं। नयी और स्वदेशी तकनीक के अभाव के चलते निचले दर्जे की उत्पादकता बनी हुई है। दुनिया की अर्थव्यवस्था में भारत की हिस्सेदारी इस बात का साक्ष्य है कि अमरीका, चीन और जापान की तुलना में भारत अपनी खुद की तकनीक विकसित करने और सुसंगत उत्पादन व्यवस्था के मामले में कितना कमतर है।

उत्पादकता के कम होने में भारत की भ्रष्ट कार्यप्रणाली के

साथ-साथ इसकी आधारभूत संरचना, परिवहन, भण्डारण, प्रबन्धन, सूचना सम्बन्धी सुविधाएँ और उत्पादक से ग्राहक तक पहुँचने की प्रक्रिया (आपूर्ति) के दुरुस्त न होने का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

लेकिन सम्पदा के निर्माण में उत्पादकता बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। उत्पादकता में वृद्धि पूरे देश के लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठा देती है। टिकाऊ और अनवरत विकास उत्पादकता पर टिकी अर्थव्यवस्था का परिणाम होता है जो देश को पूर्ण रूप से समृद्ध बनाता है। इससे अलग किसी भी व्यवस्था का परिणाम असमानता और राजनीतिक साँठ-गाँठ से चलने वाला पूँजीवाद ही है।

वैश्विक असमानता डेटाबेस के हाल ही में आये आँकड़ों के अनुसार भारत की बहुसंख्यक गरीब आबादी के पास देश की कुल सम्पत्ति का 6.4 फीसदी हिस्सा है जबकि देश के 1 फीसदी अमीर लोगों के पास कुल सम्पत्ति का 30 फीसदी हिस्सा है। इससे अलग 'द इकोनॉमिस्ट' पत्रिका के एक अध्ययन के अनुसार, भारत में राजनीतिक साँठ-गाँठ से चलने वाले कारोबार की सम्पत्ति (क्रोनी सेक्टर वेल्थ) जीडीपी की 3.4 फीसदी है और इसके साथ ही भारत क्रोनी कैपटेलिज्म सूचकांक में नौवें स्थान पर है।

1991 में हुए आर्थिक सुधारों के समय भारतीय नीति निर्माताओं के बीच एक आम राय यह थी कि आर्थिक उदारीकरण धनाढ्य वर्ग के व्यापारियों और राजनेताओं के बीच के सम्बन्ध को खत्म कर देगा और इस प्रकार समाज में अधिक बेहतर और कल्याणकारी अवसर मुहैया कराने के लिए, वस्तुओं और सेवाओं के स्वतंत्र क्रमबद्ध उत्पादन को शुरू करने और उसको सुचारू रूप से चलाने के लिए लोगों को मुक्त कर देगा।

लेकिन इसके उलट, इन दो समूहों के बीच का सम्बन्ध और अधिक मजबूत होता चला गया। भारतीय बाजारों के खुल जाने से आकर्षित हुए बड़े-बड़े निवेशक राजनीतिक नेताओं को खूब घूस देने लगे जो खुद तो प्रायः व्यापारी बने रहे और सरकारी बैंकों को अपने करीबी उद्योगपतियों को कर्ज देने के लिए मजबूर करने लगे।

मुख्य-मुख्य भगोड़े व्यापारी-- विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चोकसी और बड़े-बड़े घोटाले सरकारी अधिकारों के गलत इस्तेमाल के कुछ उदाहरण हैं। मोदी युग में यह परम्परा लगातार जारी है और बदले में इनको अम्बानी, गौतम अडानी और अन्य उभरते पूँजीपतियों का समर्थन मिलता है।

इनका एक दूसरे के लिए प्रशंसा और समर्थन साफ तौर पर दिखाई देता है, जैसे मुकेश अम्बानी ने खुले तौर पर सरकार के फैसलों को बढ़-चढ़कर अपना समर्थन दिया है। उसने मोदी द्वारा लागू की गयी नोटबन्दी का गुणगान देश के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि के रूप में किया जबकि यह साबित हो चुका है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए यह कितनी बड़ी मुसीबत की घड़ी थी।

मुकेश अम्बानी की सम्पत्ति में लॉकडाउन के दौरान लगभग 100 फीसदी की वृद्धि हुई है। (9 अगस्त, 2020)

पिछले छह सालों में अम्बानी की सम्पत्ति में लगभग पाँच गुना और अडानी की सम्पत्ति में लगभग 3 गुना वृद्धि हुई है। अम्बानी की लगातार बढ़ती सम्पत्ति का स्रोत कोई नयी तकनीक या खोज नहीं है बल्कि इजारेदारी है। उसने हर क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया है जैसे-- दूरसंचार क्षेत्र, तेल व्यापार, खुदरा व्यापार, मनोरंजक क्षेत्र। उसकी कम्पनी रिलायंस की भागीदारी हर क्षेत्र में है। बहुत से ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ उसने मौजूदा केन्द्र सरकार में अपने राजनीतिक समर्थन का फायदा उठाकर सरकारी नियम-कानूनों को अपने पक्ष में करा लिया है।

दूरसंचार विभाग में रिलायंस जियो का धमाकेदार प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण मामला है। उसने अकेले ही अपने ग्राहकों को दुनिया में सबसे कम दामों पर डेटा पैक उपलब्ध करवाया जिससे बाकी टेलीकॉम कम्पनियों के बीच कीमतों को लेकर एक युद्ध छिड़ गया।

इसके परिणाम चौकाने वाले थे-- जियो को छोड़कर बाकी सभी टेलीकॉम ऑपरेटर कम्पनियों की कुल आय और ईबीआईटीडीए (ब्याज, कर, विमूल्यन और कर्ज से पहले की आय) 15 से 40 फीसदी तक गिर गयी और एक मुख्य टेलीकॉम कम्पनी आइडिया के कर्ज और आय (ईबीआईटीडीए) का अनुपात 9 : 1 तक पहुँच गया। कम्पनी के लिए यह एक बहुत ही संकटमय स्थिति है।

सेल्युलर ऑपरेटर्स एसोसिएशन ऑफ इण्डिया ने सरकार को तत्काल इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए कहा कि रिलायंस जियो ने भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण (ट्राई) के इस आदेश की अवहेलना की है कि सभी प्रचारात्मक मुफ्त योजनाएँ 90 दिन की अधिकतम अवधि से ज्यादा नहीं हो सकतीं। लेकिन ट्राई ने खुद अपनी पुराने दिशा-निर्देशों की सूची में सुधार कर दिया और साथ ही महत्त्वपूर्ण बाजार अधिकारों (एसएमपी) में भी बदलाव कर दिया, जहाँ अब एक ऑपरेटर कम्पनी को 30 फीसदी से भी अधिक बाजार शेयर रखने जैसी खुली लूट को भी उचित करार कर दिया गया। आज जियो का बाजार शेयर 34 फीसदी है।

इसी प्रकार, पिछले साल जनवरी में भारत सरकार ने ई-कॉमर्स की नीतियों में संशोधन किया, जिसके अनुसार विदेशी निवेशकों वाली ई-कॉमर्स कम्पनियों को एकल बाजार स्रोत के जरिए 25 फीसदी से अधिक सामान की बिक्री पर रोक थी। निश्चित रूप से यह नियम विदेशी ई-कॉमर्स कम्पनियों के बड़े-बड़े खिलाड़ियों जैसे अमेजन और फ्लिपकार्ट की विकास वृद्धि

की सम्भावनाओं में रुकावट पैदा करता था क्योंकि ये कम्पनियाँ भारत में त्यौहारों के दौरान चलने वाली सेल में बड़ी-बड़ी लुभावनी छूट देकर वनप्लस, सैमसंग, शाओमी जैसे स्मार्टफोन्स की बिक्री से ही 50 फीसदी तक का मुनाफा कमा लेती हैं।

यह लगभग ग्राहक (उपभोक्ता) और ई-कॉमर्स कम्पनियों दोनों के लिए फायदे जैसा सौदा होता है। सरकार यह दावा करती है कि ये नये कानून आन्तरिक स्वदेशी कम्पनियों के लिए समान स्तर का बाजार सुनिश्चित कराएँगे और सबके लिए एक बराबर प्रतियोगिता को बढ़ावा देंगे।

लेकिन इसके सबसे बड़े लाभार्थी भारत के बड़े-बड़े व्यापारी हैं और इन सब में सबसे बड़ा मुकेश अम्बानी की रिलायंस है। अभी हाल ही में आयी ई-कॉमर्स बाजारों पर वैश्विक स्तर पर की गयी गोल्डमैन सैक्स की समीक्षा पर आधारित रिपोर्ट के अनुसार भारतीय ई-कॉमर्स उद्योग 2024 तक सम्भवतः 99 अरब डॉलर तक पहुँच जाएगा और रिलायंस हाल ही में फेसबुक के साथ तय हुए अपने अनुबन्ध/करार के जरिये ऑनलाइन किराना बाजार के आधे हिस्से पर कब्जा कर लेगी।

ई-कॉमर्स क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए दो कम्पनियों जियोमार्ट और व्हाट्सएप ने एक व्यावसायिक समझौता किया है ताकी ग्राहकों के घरों तक उनके नजदीकी स्थानीय किराना दुकानों की पहुँच को सुनिश्चित कराया जा सके। इससे इन कम्पनियों के लिए भारत के 3 करोड़ छोटे दुकानदारों तक पहुँचने का रास्ता खुल जाएगा। दो महीने के अन्दर भारतीय प्रतिस्पर्धा आयोग (सीसीई) ने 5.7 अरब डॉलर के फेसबुक-रिलायंस करारनामे को मंजूरी दे दी जिसको भारतीय तकनीकी क्षेत्र में सबसे बड़ा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) करार कहकर प्रस्तुत किया गया।

अचम्भे वाली बात यह है कि प्रबन्धकर्ता नेट न्यूट्रेलिटी के मुद्दे को पूरी तरह से नजरअन्दाज कर रहे हैं क्योंकि हर क्षेत्र चाहे वह जियो (38.8 करोड़ उपभोक्ता) हो, फेसबुक (32.8 करोड़ उपभोक्ता) हो या फिर व्हाट्सएप (40 करोड़ उपभोक्ता) हो, के पास लाखों-लाख भारतीयों की निजी जानकारी होती है जो कि उनके प्रतिद्वंदियों को सामूहिक रूप से अत्यधिक फायदा पहुँचा सकती है, खासतौर पर यहाँ जियो कम्पनी (टेलीकॉम क्षेत्र में एक बड़ा दावेदार होने के चलते) के द्वारा फेसबुक और व्हाट्सएप पर पक्षपातपूर्ण बर्ताव की सम्भावनाएँ अधिक हैं।

ये कुछ ऐसे अप्रत्यक्ष उदाहरण हैं जिनकी सरकार अपने कुछ विशेष हितों के लिए रक्षा करती है। लेकिन 2018 में तो नरेन्द्र मोदी ने रिलायंस के लिए भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के सबसे बड़े भारतीय स्टेट बैंक के पीछे का रास्ता जियो पेमेण्ट बैंक जिसको 2015 में मान्यता प्राप्त हुई है, के साथ अनुपात 30 : 70 के संयुक्त उपक्रम के माध्यम से खोल दिया है। इसलिए अब रिलायंस के पास अपने ऋणों से छुटकारा पाने के लिए भारतीय स्टेट बैंक के अथाह संसाधन हैं।

मजेदार बात यह है कि भारतीय स्टेट बैंक की पूर्व अध्यक्ष अरुन्धति भट्टाचार्य जिसने इस करारनामे को अन्तिम रूप दिया, अक्टूबर 2017 में अपना कार्यकाल पूरा करके फिर एक साल की पुनर्विचार अवधि के बाद रिलायंस इण्डस्ट्रीज लिमिटेड के बोर्ड में एक स्वतंत्र निदेशक के बतौर 5 साल के लिए शामिल हो गयीं। इसलिए एसबीआई-आरआईएल समिति ने उनके कार्यकाल के दौरान उन पर इस मुद्दे से सम्बन्धित बहुत से गम्भीर सवाल उठायै।

ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जब मोदी सरकार ने देश के हितों को दरकिनार करके मुट्ठीभर उच्च वर्ग के हितों की रक्षा की है। इसलिए अगर भारत के किसान नये कृषि बिलों में अपने अधिकारों/हितों को दरकिनार कर दिये जाने को लेकर फिक्रमन्द हैं, तो उनकी यह चिन्ता मोदी सरकार के पुराने फैसलों को देखते हुए बिल्कुल सही जान पड़ती है।

इससे अधिक अब यह पता लगाना कोई रॉकेट साइंस नहीं है कि क्यों रिलायंस के पास ही सबसे अधिक बाजार की पूँजी है और अम्बानी की सम्पदा इतनी अधिक क्यों बढ़ चुकी है। क्योंकि यदि सरकार हर क्षेत्र में कार्य करने का सबसे बुनियादी नियम ही बदल देती है और संचालन करने वाले नियमों की योग्यता पर एक गम्भीर प्रश्नचिन्ह लगा देती है, तब हारने और जीतने वालों में फर्क करना बहुत मुश्किल नहीं होता।

कोई भी व्यक्ति कुछ चुनिन्दा विजेताओं का अनुमान आसानी से लगा सकता है। लेकिन असली हार निश्चित रूप से भारतीय जनता और एक बड़े स्तर पर भारतीय अर्थव्यवस्था की है, जिसका भाग्य कुछ मुट्ठीभर अरबपतियों द्वारा तय होता है।

(रविकान्त अर्थशास्त्र और तकनीक में गहरी दिलचस्पी रखनेवाले अर्थ-सम्बन्धी मामलों के लेखक हैं और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय राजनीति और साइबर सुरक्षा के मामलों पर भी लिखते हैं। इनको आर्थिक दुनिया का व्यापक अनुभव है और इनकी कुछ समीक्षाएँ प्रमुख पत्रिकाओं जैसे- मोगुल न्यूज और द इण्डियन इकोनॉमिस्ट में प्रकाशित हो चुकी हैं।)

(साभार-- एशिया टाइम्स डॉट कॉम,

12 अक्टूबर, 2020, अनुवाद-- रुचि मित्तल)

बहुत हो चुका ओली जी! अब विश्राम कीजिए...

(नेपाल में गहराता राजनीतिक संकट)

-- आनन्द स्वरूप वर्मा

(नेपाल के प्रधानमंत्री केपी ओली द्वारा संसद भंग करने की सिफारिश से उत्पन्न राजनीतिक संकट अभी बरकरार है। इस संकट को हल करने में न्यायपालिका की भूमिका भी संदिग्ध है। अब वहाँ के जनगण की एक मात्र उम्मीद जनान्दोलन से ही रह गयी है। जनयुद्ध से हासिल हुई अनमोल उपलब्धियों-- राजाशाही का अन्त, लोकतंत्र, संघीय ढाँचा और संविधान को बचाने का एकमात्र रास्ता जनान्दोलन ही है।)

नेपाल के राजनीतिक रंगमंच पर पिछले कुछ महीनों से जो अश्लील नाटक चल रहा था, उसके पहले खण्ड का पटाक्षेप 20 दिसम्बर को प्रतिनिधि सभा के विघटन के साथ हो गया। यह सारा कुछ इतने अप्रत्याशित ढंग से हुआ कि इस नाटक के किरदार भी हैरत में आ गये। पहली बार यह देखने में आया कि कोई प्रधानमंत्री, जिसके पास लगभग दो-तिहाई बहुमत हो, वह खुद ही संसद को भंग करने की सिफारिश राष्ट्रपति से करे।

इस पूरे नाटक में कितने नायक और कितने खलनायक हैं यह तो आने वाला समय ही तय करेगा लेकिन इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्रधानमंत्री केपी शर्मा ओली ने अपने इस कदम से देश को अभूतपूर्व संकट में डाल दिया है। अपनी सत्ता बचाने की ललक में उन्होंने न केवल सत्ता से ही हाथ धो लिया बल्कि ऐसी कार्रवाई को अंजाम दिया है जो उनके लिए आत्मघाती साबित हो सकती है।

अब से दो वर्ष पूर्व जब प्रचण्ड के नेतृत्व वाली माओवादी पार्टी और ओली की नेकपा-एमाले ने मिलकर नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (एनसीपी) का गठन किया, तो भारत और अमरीका के फासीवादी रुझान वाले सत्ताधारियों के अन्दर जहाँ दहशत फैली वहीं नेपाली जनता को लगा कि अब देश की राजनीति एक सही दिशा लेगी। यह भी उम्मीद जगी कि कम्युनिस्टों के नाम पर जितने भी छोटे-बड़े समूह हैं उन्हें एक मंच पर लाया जा सकेगा। चुनाव के नतीजों ने जनता को और भी ज्यादा उत्साहित किया क्योंकि पिछले तीन-चार दशकों के बाद पहली बार किसी ऐसी सरकार का गठन हुआ था जो बिना किसी बाधा के अपना कार्यकाल पूरा कर सकती थी। एक स्थायी और स्थिर सरकार ही विकास की गारण्टी दे सकती है-- इसे सभी लोग मानते हैं। यही वजह है कि व्यापक जनसमुदाय ने इस सरकार से बहुत उम्मीद की थी-- बहुत ही ज्यादा।

उसे तनिक भी आभास नहीं था कि जिन कम्युनिस्ट नेताओं ने एक लम्बे संघर्ष के बाद राजतंत्र को समाप्त करने में किसी न किसी रूप में अपनी भूमिका निभायी, वे सत्ता की आपसी खींचतान में इस सीमा तक लिप्त हो जाएँगे कि उन्हें जनता के दुख-दर्द की तनिक भी परवाह नहीं होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 10 वर्षों के जनयुद्ध ने राजतंत्र को समाप्त करने में प्रमुख भूमिका निभायी लेकिन माओवादियों के अलावा अन्य वामपंथी या कम्युनिस्ट समूहों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी कोई भूमिका नहीं थी। अपने ढुलमुल रवैये के बावजूद अन्ततः इन्हें भी राजतंत्र के खिलाफ ही खड़ा होना पड़ा।

आज जो स्थिति पैदा हुई है उसके लिए जिम्मेदार कौन है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुख्य जिम्मेदारी प्रधानमंत्री केपी ओली की है लेकिन क्या अन्य शीर्ष नेताओं को इस जिम्मेदारी से बरी किया जा सकता है? केपी ओली ने सभी जनतांत्रिक तौर-तरीकों को दरकिनार करते हुए अगर अपने ढंग की शासन पद्धति अपनायी तो पार्टी के अन्य वरिष्ठ नेता क्या कर रहे थे?

यह पूरा वर्ष इन नेताओं की आपसी खींचतान की खबरों से भरा रहा है। पार्टी के सेक्रेटेरिएट में 9 सदस्य थे और इसमें प्रचण्ड के पक्ष का पलड़ा भारी था। पाँच सदस्य ओली की निरंकुशता का विरोध करने में मुखर थे लेकिन इन्हीं पाँच सदस्यों में से एक सदस्य बामदेव गौतम को जब ओली अपनी धूर्त रणनीति से 'न्यूट्रलाइज' कर देते थे तो ये सारे लोग असहाय दिखायी देने लगते थे। कितना हास्यास्पद और शर्मनाक है कि ओली ने बामदेव गौतम को अपनी तरफ खींचने के लिए कभी संसद की सदस्यता का तो कभी पार्टी उपाध्यक्ष का और यहाँ तक कि भावी प्रधानमंत्री का भी प्रलोभन दे दिया। इससे भी शर्मनाक यह है कि गौतम उस प्रलोभन में कुछ समय के लिए आ भी गये।

इसके लिए इस वर्ष जुलाई में हुई उन बैठकों का ब्यौरा देखा जा सकता है जब ऐसा महसूस हो रहा था कि या तो केपी ओली

अपनी कार्य-पद्धति को सुधार लेंगे या पार्टी में विभाजन हो जाएगा। नेपाल की जनता ने इन निन्दनीय प्रकरणों को अच्छी तरह देखा है इसलिए यहाँ दुहराने की जरूरत नहीं है। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि अपने विरोधियों को शान्त करने और अपने निजी स्वार्थ को बचाए रखने में ओली ने सारी कलाओं का इस्तेमाल किया। अपने सहयोगियों की कमजोर नस को पकड़ने में ओली माहिर हैं लेकिन जनता की नब्ज टटोलने में उन्होंने अपने इस कौशल का इस्तेमाल नहीं किया। यह एक बहुत बड़ी त्रासदी है।

नेपाल आज हर मोर्चे पर संकट के दौर से गुजर रहा है। कोविड-19 ने इस संकट को और गहरा किया है जिसका असर देश की अर्थव्यवस्था पर साफ दिखाई दे रहा है। इस वर्ष अप्रैल में जारी विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार नेपाल में बाहर से आने वाले पैसे में 14 प्रतिशत गिरावट आने जा रही है। रिपोर्ट के अनुसार पिछले वर्ष प्रवासी नेपालियों द्वारा भेजी गयी धनराशि 8.64 बिलियन डॉलर थी और अगर इसमें 14 प्रतिशत की गिरावट आती है तो नेपाल को तकरीबन 145 बिलियन रुपये का नुकसान होगा। विश्व बैंक की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि पिछले वर्ष जो पैसा बाहर से नेपाल पहुँचा वह सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 27.3 प्रतिशत के बराबर था।

इस वर्ष मार्च से कोई भी नेपाली नागरिक काम के लिए विदेश नहीं जा सका। इतना ही नहीं, सितम्बर 2020 तक लगभग 80 हजार नेपाली नागरिक जो विदेशों में काम कर रहे थे, स्वदेश वापस लौटने के लिए मजबूर हुए। ओली सरकार के सामने यह बहुत बड़ी समस्या थी। इस समस्या से निपटने के लिए उन्हें अपने सहयोगियों के साथ पूरा समय लगाना चाहिए था। कई दशकों बाद देश को एक टिकाऊ सरकार मिली थी। यह सरकार बहुत कुछ कर सकती थी।

2015 में नया संविधान बनने के बाद भारत द्वारा की गयी आर्थिक नाकाबन्दी से निपटने में ओली ने अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया था, जिसने उन्हें अभूतपूर्व लोकप्रियता दी। उस लोकप्रियता का वह सकारात्मक इस्तेमाल कर सकते थे। देश का दुर्भाग्य है कि उन्होंने ऐसा नहीं किया। इतिहास ने उन्हें एक शानदार अवसर दिया था जिसे उन्होंने गँवा दिया-- ठीक वैसे ही जैसे प्रचण्ड ने सत्ता में आने के बाद एक ऐतिहासिक अवसर को गँवाया। अब तो ओली जी से यही कहा जा सकता है कि आपने देश की काफी सेवा कर ली-- अब विश्राम करें।

बेशक, पार्टी के अन्दर सतही तौर पर जो सत्ता संघर्ष दिखाई दे रहा है वह मूलतः संसदीय व्यवस्था में जनतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना से जुड़ा है लेकिन राजनेताओं की छवि इतनी धूमिल हो चुकी है कि कोई इसे मानने को तैयार नहीं।

अनेक कारणों से प्रचण्ड की छवि काफी धूमिल हो चुकी है लेकिन उनके साथ माधव नेपाल का घनिष्ठ रूप से जुड़ा होना इस बात की गारण्टी करता है कि प्रचण्ड किसी भटकाव के शिकार नहीं होंगे। माधव नेपाल प्रधानमंत्री रह चुके हैं और उनका जनतांत्रिक मूल्यों और आदर्शों में दृढ़ विश्वास है। इतिहास ने इन दोनों नेताओं के ऊपर एक ऐसी जिम्मेदारी सौंपी है कि वे गर्त में जा रही राजनीति को उबारें और जनता के अन्दर एक बार फिर भरोसा पैदा हो। अगर जनता राजनीति से उदासीन हो गयी तो यह फासीवादी ताकतों के लिए बहुत अच्छी स्थिति होगी। नेपाल का सौभाग्य है कि बार-बार धोखा खाने के बावजूद जनता का अभी जनपक्षीय राजनीति में विश्वास बना हुआ है। इस विश्वास को और मजबूत करने की जरूरत है।

अभी यह कहना जल्दबाजी होगी कि नेपाल के मौजूदा राजनीतिक घटनाक्रम में भारत की कोई दिलचस्पी नहीं है। लोगों के मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या इस सबके पीछे नेपाल के सन्दर्भ में भारत की औपनिवेशिक मानसिकता का भी कुछ हाथ है। ऐसा इसलिए क्योंकि हाल ही में भारतीय खुफिया एजेंसी 'रॉ' के प्रमुख सामन्त गोयल और भारतीय सेनाध्यक्ष मनोज मुकुन्द नरवाने ने नेपाल की आधिकारिक यात्रा पूरी की। ये ऐसे लोग हैं जो नेपाल की राजनीति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। यह तो जगजाहिर है कि भारत के मौजूदा शासक केपी ओली को पसन्द नहीं करते क्योंकि आर्थिक नाकाबन्दी के दौरान उन्होंने चीन के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये। इसे भारत की निगाह में एक कम्युनिस्ट देश द्वारा दूसरे कम्युनिस्ट देश को प्रोत्साहित करना था जिसका प्रभाव चीन के सन्दर्भ में भारत की विदेश नीति पर भी पड़ता था। वैसे, अभी तक भारत की कोई प्रतिक्रिया नहीं आयी है-- उसने यही कहा है कि यह नेपाल का आन्तरिक मामला है।

यह जो संकटपूर्ण स्थिति पैदा हुई है उससे निपटने का तरीका क्या हो सकता है? आज राष्ट्रीय रंगमंच पर जो किरदार दिखायी दे रहे हैं वे सभी कम्युनिस्ट हैं और जनता के बीच समग्र रूप से कम्युनिस्टों की छवि धूमिल हो रही है। बार-बार यह याद दिलाने की जरूरत पड़ती है कि आज के विश्व में जब अनेक देशों में फासीवादी रुझान की सरकारें सत्ता में हैं, नेपाल दक्षिण एशिया का एकमात्र देश है जहाँ घोषित तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार है जो दो-तिहाई बहुमत से सत्ता में आयी है। ऐसे समय जब राजनीतिक नेतृत्व से जनता का मोह भंग हो रहा हो, समाज की अन्य शक्तियों को सामने आने की जरूरत है।

नेपाल इस अर्थ में भी एक अनूठा देश है जहाँ गम्भीर राजनीतिक-सामाजिक संकट के समय छात्रों-युवकों ने आगे बढ़कर कमान अपने हाथ में ले ली और राजनीति को सही दिशा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आप 1979 को याद करिए जब अप्रैल में पाकिस्तान के नेता जुल्फिकार अली भुट्टो की फाँसी के विरोध में काठमाण्डू के असंख्य प्रदर्शनकारी छात्रों पर पुलिस की बर्बरता और लाठीचार्ज ने छात्र-संघर्ष को भड़का दिया था। उस समय इस आन्दोलन ने देशव्यापी रूप लिया और स्थिति इतनी बिगड़ी कि इसे

रोकने के लिए तत्कालीन महाराज बीरेन्द्र को जनमत संग्रह की घोषणा करनी पड़ी। नेपाल के इतिहास में पहली बार भावी राजनीतिक व्यवस्था चुनने के लिए जनमत संग्रह कराने की शाही घोषणा हुई थी। छात्र आन्दोलन का एक और उल्लेखनीय स्वरूप 1989-90 में भी देखने को मिला जिसकी परिणिति निर्दलीय पंचायती व्यवस्था के स्थान पर बहुदलीय व्यवस्था की स्थापना के रूप में हुई।

महाराजा ज्ञानेन्द्र के शासनकाल में छात्रों के आन्दोलन का एक और असाधारण रूप तब देखने को मिला जब 13 दिसम्बर 2003 को पोखरा में सेना द्वारा एक छात्र की हत्या की गयी थी। इस घटना की प्रतिक्रिया में पृथ्वी नारायण कैंपस के छात्रों द्वारा शुरू किये गये आन्दोलन ने धीरे-धीरे समूचे देश को अपनी चपेट में ले लिया और इसकी परिणति राजतंत्र विरोधी आन्दोलन के रूप में हुई। स्मरणीय है कि उन दिनों देश की प्रमुख संसदीय पार्टियाँ 'प्रतिगमन' विरोधी आन्दोलन चला रही थीं और उनकी माँग राजतंत्र को समाप्त करने की नहीं थी लेकिन छात्रों के अन्दर वह धूर्त दृष्टि नहीं होती जो राजनीतिक दलों में होती है। हालाँकि छात्रों के संगठन आमतौर पर किसी न किसी राजनीतिक दल से परोक्ष रूप से जुड़े होते हैं।

इन छात्र संगठनों ने अपनी माँगें वही नहीं रखीं जो राजनीतिक दल रख रहे थे जिनसे वे जुड़े थे। राजनीतिक दलों की माँग तो संविधान में संशोधन करने और प्रतिगमन को समाप्त करने यानी संसद को बहाल करने तक सीमित थी लेकिन छात्र संगठनों ने आन्दोलन की धार को महाराजा ज्ञानेन्द्र और युवराज पारस के खिलाफ मोड़ने में कामयाबी पायी। वे राजतंत्र को पूरी तरह समाप्त करने की माँग कर रहे थे। उस समय स्थिति इतनी गम्भीर हुई कि अमरीका की सहायक विदेशमंत्री क्रिस्टिना रोक्का काठमाण्डू पहुँचीं और उन्होंने नेपाली कांग्रेस, नेकपा एमालै और राष्ट्रीय प्रजातंत्र पार्टी के नेताओं से मिलकर कहा कि वे अपने छात्र संगठनों से कहें कि वे राजतंत्र को समाप्त करने का नारा न लगाएँ।

आज फिर वह स्थिति आ गयी है जब देश के छात्रों-युवकों को आगे बढ़कर राजनीति की कमान सम्भालनी होगी। उनके अन्दर ही वह क्षमता है कि वे उन राजनेताओं को रास्ते पर लाएँ जो अपने निजी और संकीर्ण स्वार्थों की वजह से भटकाव के शिकार हो गये हैं। अगर ऐसा हो सका तो नेपाल की राजनीति एक बार फिर सही दिशा ले सकेगी और जनता की अपेक्षाओं को पूरा कर सकेगी।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं, समकालीन तीसरी दुनिया के संस्थापक सम्पादक हैं और तीसरी दुनिया के देशों के जानकार हैं।)

पेज 20 का शेष...

पुस्तक 'उर्दू भाषा और साहित्य' लिखी है। पुस्तक अठारह अध्याय में विभाजित है। इन अध्यायों से गुजर कर पाठक उर्दू की विशद काव्य और गद्य परम्परा से परिचित होता है। उर्दू के कृति व्यक्तित्वों पर उनका सारगर्भित और वैज्ञानिक तर्कपूर्ण मूल्यांकन हैरान करता है। वर्णन की संक्षिप्तता, विवेचन की बारीकी और ऐतिहासिक प्रमाणिकता पुस्तक को अत्यन्त मूल्यवान बना देती है। विख्यात शायर जोश मलीहाबादी सोलह आने ठीक कहते हैं कि, "अपने फिराक को मैं दशकों से जानता और उनकी रचनात्मकता का लोहा मानता हूँ। वह इल्म और अदब के मसअलों पर जबान खोलते हैं तो लफ्ज और मानी के लाखों मोती रोलते हैं, और इस इफरात से कि सुननेवालों को अपनी कम-इल्मी का एहसास होने लगता है।"[11]

लफ्ज और मानी के लाखों मोती रोलने वाले फिराक गोरखपुरी की रचनाएँ जीवन-सौन्दर्य का आख्यान हैं और उसे बचाये रखने का आह्वान भी हैं। वह विश्व मानवता के पक्षधर और उसके पैरोकार हैं। जब तक संसार में कविता की पुकार और विभिन्न दिशाओं से आती हुई उसकी अनुगूँजें होंगी, तब तक फिराक हमारे रफीके-जिन्दगी रहेंगे।

मेरे अश्आरे-दिलकश को जगह दे अपने पहलू में
कि ये नग्मे तेरे सच्चे रफीके-जिन्दगी होंगे।

सन्दर्भ :

1. मेरा दागिस्तान, रसूल हमजातोव, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृष्ठ 66।
2. बज्मे जिन्दगी : रंगे शायरी, फिराक गोरखपुरी, चयन और रूपान्तर-- डॉ. जाफर रजा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण 1987, पृष्ठ 14।
3. गुले नगमा, फिराक गोरखपुरी, हिन्दी रूपान्तर-- डॉ. जाफर रजा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008, पृष्ठ 161।
4. उपर्युक्त, पृष्ठ 162।
5. उपर्युक्त, पृष्ठ 135, 136।
6. उपर्युक्त, पृष्ठ 170, 171, 178।
7. बज्मे जिन्दगी : रंगे शायरी, फिराक गोरखपुरी, चयन और रूपान्तर - डॉ. जाफर रजा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण 1987, पृष्ठ 12।
8. गुले नगमा, भूमिका, मुहम्मद हसन अस्करी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008, पृष्ठ 6।
9. दूरदर्शन में प्रसारित बातचीत। यूट्यूब पर उपलब्ध।
10. बज्मे जिन्दगी : रंगे शायरी, फिराक गोरखपुरी, चयन और रूपान्तर - डॉ. जाफर रजा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथा संस्करण 1987, पृष्ठ 14।
11. यादों की बारात, जोश मलीहाबादी, संक्षिप्त संस्करण, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ 135।

भारत-अमरीका 2-2 वार्ता के निहितार्थ

-- प्रवीण कुमार

27 अक्टूबर को भारत-अमरीका के बीच रक्षा क्षेत्र में सहयोग के लिए मंत्रीस्तरीय वार्ता सम्पन्न हुई। यह 2-2 वार्ता की अगली कड़ी थी। वार्ता में भारत की ओर से रक्षा मंत्री राजनाथ सिंह और विदेश मंत्री एस जयशंकर तथा अमरीका की ओर से माइक पोम्पियो और मार्क एस्पर ने हिस्सा लिया।

वार्ता के बाद दोनों देशों ने भारत-अमरीका मूलभूत विनिमय और सहयोग समझौता (बेसिक एक्सचेंज एण्ड कॉपरेशन एग्रीमेण्ट, बीईसीए) पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते का केन्द्रीय बिन्दु दोनों देशों के बीच रक्षा क्षेत्र में "पारस्परिकता" स्थापित करना है। इसे मोदी सरकार की भारी सफलता बताया गया है।

समझौते के अनुसार दोनों देश किसी भी खास समय पर किसी स्थान सम्बन्धी खुफिया जानकारी, सेटेलाइट की तस्वीरें और नक्शे एक दूसरे के साथ साझा करेंगे। दावा है कि इससे भारत की अमरीकी भू-स्थानिक खुफिया प्रणाली तक पहुँच बन जाएगी। सशस्त्र ड्रोनों, मिसाइलों, स्वचालित प्रणालियों और हथियारों की सटीकता बढ़ जायेगी। इसे ऐसे समझिये, इस समझौते से भारत को स्मार्ट फोन के जीपीएस जैसा और उससे उन्नत जीपीएस मिल जायेगा जो उसकी मिसाइलों, लड़ाकू विमानों, पनडुब्बियों को उसी तरह सही जगह पहुँचा देगा जैसे जीपीएस हमारी गाड़ियों को पहुँचा देता है। इसका ऐसा प्रचार किया गया है मानो भारत को अमरीका ने कोई ब्रह्मास्त्र दे दिया हो जिससे वह पाकिस्तान, चीन समेत किसी भी देश को नेस्तनाबूद कर देगा।

जैसा कि सरकार का ही दावा है कि सर्जिकल स्ट्राइक के समय भारत की मिसाइलों ने इतना सटीक निशाना साधा था कि आम आबादी के बीच केवल उसी इमारत को नुकसान पहुँचा जिसमें आतंकवादी थे। इसका मतलब है कि एक अच्छी-खासी भू-स्थानिक खुफिया प्रणाली भारत के पास पहले से ही है। इसके बिना क्या मिसाइलों, लड़ाकू विमानों आदि का इस्तेमाल सम्भव हो पाता?

अमरीका की भू-स्थानिक प्रणाली भी अजेय नहीं है। याद कीजिए कि इसी साल यमन के हूती विद्रोहियों ने अरब के तेल संयंत्रों पर मिसाइलें दागी थीं। इनके पास अमरीका की भू-स्थानिक प्रणाली नहीं थी, फिर भी इन्होंने 1500 किलोमीटर दूर बिल्कुल सटीक निशाना साधा। अरब और पास ही फारस की खाड़ी में खड़ा अमरीकी बेड़ा, दोनों भू-स्थानिक प्रणाली से जुड़े थे लेकिन उन्हें इस हमले की भनक तक न लगी। ये मिसाइलें कहाँ से छोड़ी गयी थीं इसकी सटीक जानकारी भी अमरीका और अरब को नहीं है। दूसरा मामला ईरान का था। उसने अमरीका के एक खोजी ड्रोन को मार गिराया। जिसके बारे में अमरीका का दावा था कि यह दुनिया का सबसे महँगा और सबसे उन्नत तकनीक का ड्रोन है, इसे रडार नहीं पकड़ सकते। यह भी भू-स्थानिक प्रणाली से जुड़ा था।

दुनिया में भारत का सीमा विवाद केवल दो पड़ोसियों चीन और पाकिस्तान से है। सीमावर्ती इलाकों के नक्शे और दूसरी जानकारी भारत के पास अमरीका से कहीं ज्यादा है। अलग-अलग स्रोतों से खबरें आती रहती हैं कि रॉ और आईबी जैसी भारतीय खुफिया एजेंसियों का इन देशों में मजबूत नेटवर्क है। दोनों देश परमाणु शक्ति सम्पन्न हैं और निकट भविष्य में इनसे युद्ध की भी कोई सम्भावना नहीं है। भारत के अपने मामलों में तो अमरीका की भू-स्थानिक प्रणाली निश्चय ही भारत के किसी काम की नहीं है।

सभी जानते हैं कि आधुनिक विमान, पनडुब्बियाँ, मिसाइलें या दूसरी आयुध प्रणालियाँ बेहद जटिल कम्प्युटरीकृत इलेक्ट्रानिक प्रणालियाँ होती हैं। अमरीका की भू-स्थानिक प्रणाली दुनिया की सबसे बड़ी खुफिया निगरानी संस्था "फाइव आई" के साथ जुड़ी है। साथ ही इस समझौते में तय भारत-अमरीका "पारस्परिकता" से भारतीय सेना में अमरीकी पहुँच बहुत गहरी हो जाएगी जिससे भारतीय बेड़े में शामिल इन जटिल प्रणालियों की संरचना और कार्यप्रणाली सम्बन्धी तकनीकी जानकारी लीक हो सकती है। भारत की लगभग 70 प्रतिशत प्रतिरक्षा सामग्री रूस से आयातित है। अमरीकी प्रणाली इनमें सफल होगी और भविष्य में रूस या कोई देश भारत को अत्याधुनिक आयुध देगा, इसमें सन्देह है।

रूस और चीन के साथ भारत ब्रिक्स और शंघाई सहयोग संगठन में शामिल है। ये दोनों ही संगठन भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। 2-2 समझौते के बाद इनमें भारत की हैसियत बहुत नीचे चली जाएगी।

इन बहुत साधारण सी बातों के आधार पर ही साफ है कि बीईसीए में भारत के लिए कुछ नहीं है। इसमें असली फायदा अमरीका को है। गौरतलब है कि यह समझौता अमरीकी राष्ट्रपति चुनाव से मात्र एक सप्ताह पहले बहुत हड़बड़ी में हुआ है। इसके लिए दबाव अमरीका का थौ, भारत का नहीं। समझौते के सूत्रधार

अमरीकी रक्षा मंत्री मार्क एस्पर का कहना है कि-- बीईसीए 21 वीं सदी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होगा। यह भारत को लगातार "पारस्परिकता" की अनिवार्यताओं की याद दिलाता रहेगा। जिसकी माँग है कि दूसरे सहयोगियों की तरह भारत भी अमरीका के शस्त्रीकरण से जुड़ जाये।

"पारस्परिकता" के लिए निश्चित रूप से भारत को रूस से रक्षा खरीद तेजी से खत्म करनी पड़ेगी। भारत-रूस का लम्बे समय से चला आ रहा गठजोड़ खत्म हो जायेगा, जो अमरीका के लिए एक बड़ा राजनीतिक लाभ होगा। "पारस्परिकता" अमरीका को अपने हथियार उद्योग को बढ़ाने का भी मौका देती है जो अमरीका की राष्ट्रीय सुरक्षा रणनीति का एक केन्द्रीय तत्व है। गौरतलब है कि समझौते से पहले ही भारत अपने रक्षा-उद्योग को विदेशी निवेश के लिए खोल चुका है।

समझौते से मात्र एक सप्ताह पहले मार्क एस्पर ने अपना मकसद साफ तौर पर जाहिर करते हुए कहा था कि जिस तरह बीजिंग और मास्को दुनिया के हथियार बाजार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए दूसरे देशों को अपने सुरक्षा तंत्र में शामिल कर रहे हैं, यह अमरीका के लिए एक चुनौती है। इससे निपटने के लिए अमरीका को भी रिश्ते बनाने की कोशिशें करनी चाहिए और भविष्य के कार्यकारी माहौल को जटिल बनाना चाहिए।

भारत-अमरीका के बीच अनौपचारिक रक्षा सहयोग 1991 में ही शुरू हो गया था। भारत ने खाड़ी युद्ध के दौरान अमरीकी लड़ाकू विमानों को मुम्बई में तेल भरने की छुट दी थी। 9/11 के बाद अमरीकी जंगी बेड़े के जहाजों को भारतीय बन्दरगाहों का इस्तेमाल करने की छूट दी गयी थी।

भारत और अमरीका के बीच औपचारिक रक्षा समझौते की शुरुआत 2008 में हुई। वैश्विक परिस्थितियों के दबाव में शुरुआत तो हो गयी थी लेकिन तत्कालीन सरकार उसके दुष्परिणाम समझती थी। पहला, अमरीका का रिकार्ड है कि वह जहाँ एक बार घुस गया फिर वहाँ से निकलता नहीं। दूसरा, दुनिया की अधिकांश जनता अमरीका से नफरत करती है। अमरीका का सहयोगी बनने का अर्थ है, अपने पड़ोसी और दूसरे सहयोगी देशों से बेमतलब की दुश्मनी मोल लेना।

2014 में मोदी के सत्ता में आते ही अमरीका के साथ समझौते का माहौल तेजी से बनने लगा। अगस्त 2016 में दोनों देशों ने लॉजिस्टिक एक्सचेंज मेमोरेण्डम ऑफ एग्रीमेण्ट (एलईएमओए) पर हस्ताक्षर किये। इसमें दोनों देशों को एक दूसरे के सैन्य अड्डे, हवाई अड्डे, बन्दरगाह के इस्तेमाल करने, वहाँ तक आपूर्ति पहुँचाने, सैन्य वाहनों और उपकरणों की मरम्मत और रख-रखाव जैसी तमाम चीजों की छूट दी गयी थी। सितम्बर 2018 में, पहली 2-2 वार्ता में दोनों देशों ने कम्युनिकेशन कम्पेटिबिलिटी एण्ड सिक्युरिटी एग्रीमेण्ट (सीओएमसीएएसए) स्वीकार किया। इसमें भारत को अपने लड़ाकू विमानों, जहाजों और सैन्य प्रतिष्ठानों में अमरीका द्वारा दिये गये कम्युनिकेशन उपकरण लगाने थे ताकी दोनों देशों के सैन्य अधिकारी सीधे सम्पर्क में रह सकें। इसे दोनों सेनाओं के बीच "पारस्परिकता" की शुरुआत कहा गया।

भारतीय सेना को आज तक अपनी सीमाओं के अलावा कहीं और युद्ध लड़ने की जरूरत नहीं पड़ी, न ही भविष्य में ऐसी कोई सम्भावना है। भारत जो आज तक अपने सीमाई झगड़े में ही उलझा है, जिसके अपने बाजार और संसाधनों का दूसरे देश दोहन कर रहे हैं, उसे निजी मामले में कभी भी लातिन अमरीकी देशों, कनाडा या यूरोपीय देशों के साथ युद्ध की कोई जरूरत नहीं पड़ने वाली। इसीलिए उसे कभी अमरीकी सैन्य संसाधनों की जरूरत भी नहीं पड़ेगी। यह सोचना ही पागलपन है और अगर कभी सूरज पश्चिम से उग भी जाये और भारत को जरूरत पड़ भी जाये तो अमरीका भारत को अपने संसाधनों का इस्तेमाल करने देगा यह सोचना और भी बड़ी मूर्खता है। वास्तव में एलईएमओए और सीओएमसीएएसए केवल एकतरफा समझौते हैं जिनसे अमरीका को भारतीय सैन्य संसाधनों के इस्तेमाल और नियंत्रण की छूट मिली है।

उपरोक्त दोनों समझौतों के साथ तीसरे समझौते बीईसीए को भी जोड़ दें तो एक बहुत डरावनी तस्वीर बनती है। भारतीय सेना अमरीकी सेना का एक निम्नस्तरीय उपांग बन चुकी है। इसके संसाधन अमरीका इस्तेमाल करता है, इसके लड़ाकू विमानों, जंगी जहाजों, मिसाइलों आदि में अमरीकी संचार उपकरण लगे हैं, इसके अधिकारी सीधे अमरीका से जुड़े हैं और अमरीका ही बताता है कि कहाँ निशाना लगाना है।

मार्क एस्पर भारतीय मंत्रियों से बहुत अलग हैं। वह साफ-साफ बात करते हैं। पिछले आठ महीनों में वह कई बार कह चुके हैं कि-- हम अति महाशक्तियों के टकराव के दौर में प्रवेश कर चुके हैं। एक पक्ष में अमरीका अपने सहयोगियों के साथ है और दूसरे में रूस और चीन। यह टकराव दुनिया में हर जगह मौजूद है। अमरीका के साथ हुए रक्षा समझौतों, क्वैड, हिन्द-प्रशान्त समझौते जैसे समझौतों ने इसमें भारत की भूमिका लगभग सुनिश्चित कर दी है। एशिया में अमरीका और उसके सहयोगियों के हितों का चौकीदार और वह भी अपने खर्च पर। भारत की इस नयी नौकरी और इसकी मरोड़ के चलते ईरान, वियतनाम तो क्या नेपाल, बांग्लादेश जैसे इसके परम्परागत सहयोगी भी इससे दूर हो चुके हैं। धन्य है इसकी विदेश और रक्षा नीति।

बड़ी महाशक्तियों के टकराव के इस दौर में भारतीय सेना एक नयी भूमिका निभाने के लिए तैयार है। यह भूमिका पहले और दूसरे विश्व-युद्ध में इसकी भूमिका से अलग होगी। युद्ध, झड़पें या सामान्य परिस्थिति में इसका सारा खर्च भारतीय जनता उठाएगी, सारे सैनिक और अधिकारी भारतीय होंगे, झण्डा भी तिरंगा होगा लेकिन काम यह अमरीका की जरूरतों के मुताबिक करेगी।

साहित्य

फिराक गोरखपुरी : जिन्दा अल्फाजों का शायर

(28 अगस्त 1896 - 3 मार्च 1982)

-- विजय गुप्त

फिराक गोरखपुरी जिन्दा अल्फाजों के महान शायर हैं। अल्फाज उन्हें रचते हैं और वह अल्फाजों को गढ़ते हैं। रचने और गढ़ने की अद्‌भुत जादूगरी ही कविता है। कविता या शायरी बैठे-ठाले का खेल नहीं, न ही जोड़-घटाव, गुणा-भाग का बहीखाता। कविता तो मृत्यु के पंजे से जीवन को खींच लाना है, विष को अमृत में बदलना है।

शिव का विष-पान तो सुना होगा
मैं भी ऐ दोस्त, पी गया आँसू

विषपायी होता है कवि और कविता निरन्तर बहती हुई जीवन की धारा। अविकल जीवन-धारा की केन्द्रीय शक्ति हैं-- अल्फाज और जबान। शब्द और भाषा।

विश्व प्रसिद्ध दागिस्तानी लेखक रसूल हमजातोव ने लिखा है कि, "दुनिया में अगर शब्द न होता, तो वह वैसी न होती, जैसी अब है। भाषा-ज्ञान के बिना कविता रचने का निर्णय करने वाला व्यक्ति उस पागल के समान है, जो तैरना न जानते हुए नदी में कूद पड़ता है।"[1] फिराक गोरखपुरी भी शब्द-साधना से तपी हुई जन-भाषा के बारे में कहते हैं, "मेरे नजदीक कविता वही है, जिसकी शब्दावली कोशों के उन शब्दों से न बनायी जाये जो समाज में प्रचलित नहीं हैं। कविता की भाषा न कोशों में दफ्न रहती है, न दावात की रोशनाई में। करोड़ों की बोलचाल को सुसंगठित करके कविता की भाषा बनती है। यही किया है सूर और तुलसी ने, कबीर और मीरा ने। और यही किया है उर्दू कवियों ने।"[2]

फिराक गोरखपुरी ने भी जीवन भर शब्द-तप किया और अपनी तपस्या के फल को जनता को सौंपते हुए पुरखों के खून से सुर्खरू इल्मो-हुनर को हर हाल में बचाये रखने की दरख्वास्त भी की।

सुकूते शाम मिटाओ बहुत अंधेरा है
सुखन की शम्अ जलाओ बहुत अंधेरा है
चमक उठेंगी सियह-बख्तियाँ जमाने की
नवा-ए-दर्द सुनाओ बहुत अंधेरा है
हर इक चराग से तीरगी नहीं मिटती
चराग-ए-अश्क जलाओ बहुत अंधेरा है

अंधेरा कितना भी घना क्यों न हो, जलता हुआ दीया उसे डराता तो है ही और आँसुओं का दीया तो आत्मा को उजाले और साहस से भर देता है। फिराक साहब ने अपनी जिन्दगी और जमाने के अंधेरे को देखा और झेला था। पलटकर उस पर वार भी किया था। अंधेरा उनके लिए बड़ा मानीखेज है। वह उन्हें दुःख के गर्त में ढकेलता है, दर्द के पहाड़ पर बैठाता है और यातना की आग में जलाता है। वह जलते हैं, तार-तार होते हैं लेकिन टूटते नहीं हैं। अंधेरा उन्हें भीतर से रौशन कर देता है और दुःख उन्हें संसार से जोड़ देता है। सीमातीत बना देता है। निजी पीड़ा पराई पीर से जुड़कर जिन्दगी का चमकता हुआ आइना हो जाती है। इस आइने में फिराक जिन्दगी के सौ-सौ अक्स देखते हैं,

सिखा गया है दुःख मेरा परायी पीर जानना
निगाहे-यार थी यहाँ भी आज मेरी रहनुमा
यही नहीं कि आज मुझको जिन्दगी नयी मिली
हकीकते-हयात मुझ पे सौ तरह से खुल गयी

जिन्दगी की हकीकत का 'सौ तरह से खुलना' दरअसल 'खुल जा सिमसिम' की तरह एक जादुई सूत्र वाक्य है जो फिराक साहब के काव्य-महल के द्वार खोल देता है। द्वार खुलते ही आपका सामना हीरे, मोती, जवाहिरात, माणिक-मुक्ता के साथ आँसू, आह, कराह और दर्द भरी पुकार से होता है। आप अलादीन की तरह ठगे से रह जाते हैं। दौलत से भर-भर उठते हैं, फिर भी कहीं कुछ खाली सा रह जाता है। जिन्दगी की सौ-सौ सच्चाइयों को फिराक सौ-सौ तरह से बयान करते हैं। उनकी वर्णन करने की अपरम्पार क्षमता, आर-पार देखने की त्रिकालदर्शी दृष्टि और हृदयस्पर्शी भाषा हमारे भीतर जीने की और संघर्ष करने की इच्छा जगा देती है। उनका मनुष्य पर विश्वास हमारे भीतर विश्वास का दीपक जला देता है।

ये रात अंधेरी है मगर
ऐ गमे-फर्दा
सीनों में अभी शम्ए-यकीं
जाग रही है

हमलावर अंधेरे में भी फिराक विश्वास का दिया जलाये रखते हैं। सारी कुरूपता और विकृति की मौजूदगी में सौन्दर्य की चमक को बरकरार रखते हैं। वह नयी दुनिया का सपना देखते हैं। एक ऐसी दुनिया जो प्रेम और ज्ञान से भरी हुई हो। विवेकवान और

प्रबुद्ध हो। फिराक कहते भी हैं कि,

तामीर करेंगे नयी दुनिया-नयी दुनिया
कमजोरों में वो जोरे-हुमम बाँट रहा हूँ
हर चीज का चोला ही बदल दूँगा सिरे से
संसार को एक और जनम बाँट रहा हूँ
दुनिया को नये दौर की देता हूँ बशारत
या एक नयी तकदीरे-उमम बाँट रहा हूँ
कल जिनसे बदलने को है तकदीर बशर की
मैं आज वो अफकारे-अहम बाँट रहा हूँ
ऐ अहले अदब आओ ये जागीर सम्भालो
मैं ममलिकते-लौहो-कलम बाँट रहा हूँ

जिस नयी दुनिया की तामीर का तसव्वुर कवि ने किया है, उसे नेस्तनाबूद करने की हरचन्द कोशिश इनसानियत के दुश्मनों द्वारा की जाती रही है। परतंत्र भारत में अंग्रेजों और उनके देशी खैरख्वाहों की चालबाजियाँ और दगाबाजियाँ फिराक गोरखपुरी ने देखी थीं। अंग्रेजी राज में लूटपाट और पाशविकता का नंगा नाच चारों तरफ चल रहा था। न्याय, कानून और मनुष्यता का कोई अता-पता नहीं था। शैतानियत का बोलबाला था। फिराक चाहते तो शैतान के पक्ष में खड़े होकर ऐशो-आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। राजसी ठाठ-बाट का मजा ले सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। आईसीएस में चुने जाने के बावजूद उन्होंने 1920 में शानदार सरकारी नौकरी को लात मार दी और स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े। अंग्रेजों की आँख की किरकिरी बने फिराक को बन्दी बना लिया गया। वह डेढ़ साल जेल में रहे। उन्होंने मखमली कालीनों पर चलने की जगह काँटों की राह चुनी। उन्होंने देशवासियों को सचेत किया कि नकली और असली को पहचानो, सच और झूठ में फर्क करना सीखो और दूसरों पर नहीं खुद पर एतबार करना सीखो।

उर्दू के महान शायर अकबर इलाहाबादी को समर्पित उनकी प्रसिद्ध कविता है 'लिसानुल-अस्र 'अकबर' इलाहाबादी'। इस लम्बी कविता में उन्होंने वतनपरस्ती का अर्थ बताया है और जन-विरोधी राजनीति के पाखण्ड और छल-कपट से परदा हटाया है। उन्होंने अकबर इलाहाबादी के बारे में लिखा है कि "वतन-परस्ती उनमें कूट-कूट कर भरी थी। वह रवायती, तहजीबी पंचशील और मुत्तहिदा कौमियत के अलमबरदार थे।"[3] इसी वतनपरस्ती और सामूहिकता की भावना को बचाये रखने और जनता के दुश्मनों से होशियार रहने की जरूरत है। इन पंक्तियों का मुलाहिजा कीजिए और असली दुश्मन को पहचानिए,

हजारों अंजुमन आराइयों की हलचल में
हनोज कानों में गूँजी हुई है तेरी पुकार
कि जलसों और डिपुटेशनों के धोके न खाओ
ये तमतराक है बिदारी-ए-गलत, हुशयार!
वो ऐंड-ऐंड के चलना वो पाँव में जंजीर
निसार कौम के अन्दाजे-खुशखरामी के
मगर ये कहके सरे-राह तूने टोक दिया
न खा फरेब! तरक्कीनुमा गुलामी के
कहा कि लाट के दरबार में मिली कुर्सी
कहा कि दोस्तो इस नक्ली शद्दो-मद से बचो
कहा कि इनकी इआनत से कौम पनपेगी
कहा कि भाइयो अंग्रेज की मदद से बचो
बहुत से खूँटे के बल पर उछलते ये बछड़े
कहे ये कौन मआल इसका नामुरादी है
रहा न तुझसे गया और तू पुकार उठा
जहाँ में राजे-तरक्की खुतएतमादी है![4]

इस बाकमाल कविता के आइने में आज का प्रतिबिम्ब देखिए और सत्ता के घमण्ड और अहंकार को समझिए। कड़कड़ाती हुई ठण्ड में, शीतलहर के बीच लाखों-लाख किसानों ने दिल्ली की सड़क पर डेरा डाल दिया है। उनकी दो-टूक माँग है कि हाल ही में संसद द्वारा पारित कृषि कानूनों को रद्द किया जाये। गौरतलब है कि प्रधानमंत्री मोदी और उनके मंत्रीमण्डल ने विपक्षी दलों, किसानों और खेती-किसानी के विशेषज्ञों से बहस-मुबाहिसा बिना आनन-फानन में बिल पास कर दिया। मानो भूत पीछे पड़ गया हो। इस बिल के लागू होने का मतलब है किसानों की हाड़तोड़ मेहनत के फल पर कॉरपोरेट का कब्जा। यानी हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा। मरे किसान और हो मालामाल साहूकार।

फिराक साहब ने तंज कसा है ना कि, 'खूँटे के बल पर उछलते ये बछड़े' यानी मोदी जी के मंत्री-सन्तरीनुमा बछड़े किसानों को मूर्ख, देशद्रोही और आतंकी कह रहे हैं। इस भीषण ठण्ड में किसानों पर ठण्डे पानी की बौछार कर रहे हैं। लाठी चार्ज कर रहे हैं। अन्नदाता को लालच देकर फुसला रहे हैं कि फलाँ कर देते हैं, ढिमाका कर देते हैं। लेकिन किसानों ने उनके सोने की थाली और चाँदी के गिलास पर लात मार दी और पालथी मोड़कर जमीन पर आलथी-पालथी बैठ गये और घर का लाया हुआ दाल-भात और तरकारी इत्मीनान से खाया। यहाँ तक कि सरकार बहादुर की चाय भी ठुकरा दी।

इस तरह किसानों ने खुदएतमादी का ऐलान किया, अपनी वतनपरस्ती का इजहार किया। किसानों को मूर्ख समझने वाली मोदी सरकार को अक्लमन्दी का पाठ पढ़ाया। ऐसी व्यूह रचना की कि बड़े-बड़े सूरमाओं के छक्के छूट गये। किसानों ने अद्भुत एकता और भाईचारे की मिसाल पेश की। जात-पात, धर्म, बिरादरी की सारी सीमाओं को उन्होंने ध्वस्त कर दिया। मुझे बचपन में एक कविता सिखाई गयी-- 'हे किसान, तू बादशाह है।" आज उसी बादशाह को हमारे बड़े वजीर ने रंक बनाने की सारी जुगत कर दी है। अन्नदाता किसानों के साथ सरकार का यह उपेक्षापूर्ण और

निर्मम व्यवहार अंग्रेजों के जालिम जमाने की याद दिलाता है। फिराक साहब ने सावधान किया है, 'कि भाइयो अंग्रेज की मदद से बचो।' यहाँ तो विदेशी पूँजी के लिए पलक-पाँवड़े बिछाए जा रहे हैं। डॉलर और पॉण्ड की आरती उतारी जा रही है। आत्मनिर्भरता का स्वाँग रचा जा रहा है।

इसे विडम्बना नहीं तो और क्या कहें कि आत्मनिर्भर भारत में किसान आन्दोलन के दौरान पिछले 30 दिनों में 40 किसानों की मौत हो चुकी है। किसानों की हालत और सरकार के रवैये से दुखी होकर बाबा सन्त रामसिंह ने खुद को गोली मार ली। अपने साथियों की मौत से गमगीन किसान मोर्चे पर डटे हुए हैं। फिराक साहब की कालजयी रचना 'तलाश-हयात' की पंक्तियाँ याद आ रही हैं,

फूल नहीं तो दागों से दामने-दिल भरे चलो
तारों को छेड़ते बढ़ो खाक भी छानते चलो।
मौत मिले जो राह में मौत को भी लिए चलो
उठ पड़ो आँधियों की तरह सैल-नुमा बढ़े चलो।[5]

मौत से टकराकर ही जिन्दगी को बचाया और खूबसूरत बनाया जा सकता है। सौन्दर्य की साधना ही कविता और जीवन का मूल मंत्र है। 'हम जिन्दा थे, हम जिन्दा हैं, हम जिन्दा रहेंगे' का दर्शन ही फिराक गोरखपुरी की शायरी का प्राण-तत्व है। उनकी अमर कविता 'दास्ताने-आदम' मानो आज के किसान आन्दोलन की दास्तान ही सुना रही है।

खेती को सँवारा तो सँवरते गये खुद भी
फसलों को उभारा तो उभरते गये खुद भी
फितरत को निखारा तो निखरते गये खुद भी
नित अपने बनाये हुए साँचों में ढलेंगे,
हम जिन्दा थे, हम जिन्दा हैं, हम जिन्दा रहेंगे।[6]

जिन्दा रहने के लिए भाव के साथ विवेक की भी जरूरत होती है। शरीर में जैसे दिल के साथ दिमाग है, उसी तरह कविता में भाव के साथ विवेक होना चाहिए। रोटी और नमक की तरह। आँख और आँसू की तरह। विवेकहीन भाव उस आँख की तरह है, जो बस बिसुरना जानती है और भावहीन विवेक उस आँसू की तरह है जो रेत हो चुकी है। फिराक गोरखपुरी की शायरी में आँख भी है और आँसू भी; रोटी भी है और नमक भी।

फिराक साहब अपनी काव्य-प्रक्रिया के बारे में लिखते हैं कि, "मुझे उस जमीन को, जिसे उर्दू के बड़े-बड़े कवियों ने अपने कलेजे के खून से सींचकर तैयार किया था, फिर से गोड़ना और जोतना था। अपनी कविता की शैली को मुझे एक सहज सुझाव देना था। उसके साथ-ही-साथ मानवता और दिव्यता प्रदान करनी थी। जिन विषयों को मुझे वाणी देनी थी, वे अनित्य होते हुए अमृतपान कर चुके हैं और अमरत्व पा चुके हैं। दिव्यता, भौतिकता से पृथक् वस्तु नहीं है। यही अनुभव अनेक पहलुओं से व्यक्त करना मेरे लिए कविता का मुख्य लक्ष्य रहा है।"[7]

जैसे किसान अपना खेत गोड़ता है, जोतता है और फसल के लिए तैयार करता है, उसी तरह फिराक गोरखपुरी भी कविता की जमीन तैयार करते हैं। विषय चुनते हैं। भाषा और शैली से उसे सजाते-सँवारते हैं। काट-छाँट करते हैं और कविता की लहलहाती फसल दुनिया की नजर कर देते हैं।

इकरारे-गुनाहे-इश्क[1] सुन लो
मुझसे इक बात हो गयी है।
जो चीज भी मुझको हाथ आयी
तेरी सौगात हो गयी है।
(1. प्रेम करने के गुनाह का इकरार)

फिराक गोरखपुरी को पढ़ते-सुनते-गुनते हुए प्रेम के विस्तार और चौतरफा फैलाव का दिव्य अनुभव होता है। यह दिव्यता शरीर के रास्ते ही आत्मा तक पहुँचती है। शारीरिक रति का स्वीकार फिराक की कविता को नया रंग-रूप और तेवर देता है। उनके काव्य-संसार में रति का अर्थ केवल आनन्द और उत्तेजना के लिए काम-क्रीड़ा भर नहीं है बल्कि दैहिक भोग को भौतिक स्तर से उठाकर आध्यात्मिक अनुभव के रचनात्मक उत्कर्ष तक ले जाना है। अपनी रूबाई 'सुन्दरम्' में कहते हैं कि,

है रूप में वो खटक वो रस वो झनकार
कलियों के चटखते वक्त जैसे गुलजार[1]
या नूर की उँगलियों में देवी कोई
जैसे शबे-माह बजाती हो सितार
महताब[2] में सुर्ख अनार जैसे छूटे
या कौसे-कुजह[3] लचक के जैसे टूटे
वो कद है कि भैरवी सुनाए जब सुब्ह
गुलजारे शफक[4] से नर्म कोंपल फूटे
(1. उपवन 2. चाँद 3.इन्द्रधनुष 4. उषा के उपवन)

कुछ शेर भी देखिए,

हिजाब में भी उसे देखना कयामत है
नकाब में भी रुखे-शोला-जन की आँच न पूछ
लपक रहें हैं वो शोले कि होंट जलते हैं
न पूछ मौजे-शराबे-कुहन की आँच न पूछ

फिराक साहब की कविताई के बारे में मुहम्मद हसन अस्करी मार्के की बात कहते हैं, "फिराक के आशिक और माशूक के पास जिस्म तो खैर है ही, दिमाग भी है, जो अत्यन्त व्यस्त भी रहता है और जिसे इश्क के अतिरिक्त दूसरी मशगूलियतें भी निभानी होती हैं। इसलिए इन दोनों के सम्बन्धों में अनेक पेचीदगियाँ भी पैदा हो जाती हैं। वहाँ दो शरीर मात्र ही एक दूसरे का साक्षात्कार नहीं करते, बल्कि दो दिमाग भी गुँथे हुए हैं। इन्हीं दो दिमागों के दाँव-पेंच से 'फिराक' के काव्य की रचना-प्रक्रिया रूप धारण करती है।"[8]

फिराक गोरखपुरी अपने युग की विभीषिकाओं को लेकर बराबर सजग और मुखर रहे हैं। उनकी ऐतिहासिक उपलब्धि है कि उन्होंने उर्दू कविता को रागात्मक, बौद्धिक और कलात्मक बनाने के साथ उसे भारतीय साहित्य, कला और दर्शन की बारीकियों से जोड़ा और विश्व कविता के समकक्ष खड़ा किया। उर्दू कविता के फलक को विस्तृत करने में उन्होंने मीर तकी मीर और नजीर अकबराबादी का जनवादी रास्ता अपनाया और कविता को जनता की सम्पत्ति बनाया। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, ब्रज भाषा एवं लोक बोलियों की सुनी-अनसुनी ध्वनियों को लेकर अद्‌भुत सिम्फनी की सर्जना की जो हमारे जेहन को आज भी तरो-ताजा और रौशन करती है। हमें अंधेरे से प्रकाश की ओर ले जाती है और जीवन के अमूल्य मंत्र 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की याद दिलाती है।

फिराक साहब जनता को बड़ा मान देते हैं और जनता की आमफहम जबान को महान कविता और गद्य के लिए अनिवार्य मानते हैं। वह चाहते थे कि ऐसी जबान में लिखा जाये जिसे बच्चा भी समझ ले। सहज, सरल और जनता की जिन्दादिल बोली-बानी के तर्क पर किसी ने उनसे व्यंग्य में कहा कि, "तो क्या तरकारी खरीदने की भाषा लिखें? फिराक साहब का जवाब था कि, 'बड़ा साहित्य तरकारी खरीदने की भाषा में ही होता है।"[9]

'तरकारी खरीदने की भाषा' यानी मिट्‌टी, पानी, हवा और आग से बनी हुई भाषा। संघर्ष से तपी और निखरी हुई भाषा। इसी जन-भाषा का इस्तेमाल जनता से जुड़ा हुआ रचनाकार करता है। "साधारण शब्दों के जीवित और दुखती हुई रगों को छू लेने से जो भाषा बनती है, वही कविता की भाषा है।"[10] वह हिन्दी-उर्दू को एक नयी ऊँचाई पर ले जाते हैं। भाषाओं के बीच यह मेल-मिलाप ही भारत की असली पहचान है और इस पहचान को बचाकर ही हम भारतीय लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता को बचा सकते हैं। फिराक साहब ने केवल इश्किया रचना ही नहीं की है, बल्कि देश और दुनिया को बदल देने वाली इन्कलाबी कार्रवाइयाँ भी हैं और जागृति पैदा करने वाली क्रान्तिकारी रचनाएँ भी की हैं। इस सन्दर्भ में उनकी कविताएँ हैं-- 'धरती की करवट', 'मार्क्स और लेनिन की सेवाएँ', 'इकाबे-बीन रोटियाँ', 'हिण्डोला', 'तलाश-हयात', 'लिसानुल-अस्र 'अकबर' इलाहाबादी', 'दास्ताने आदम', 'किसानों की पुकार', 'शिक्षा में गोलमाल' आदि।

उन्होंने आजादी की लड़ाई के दौरान हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता, आर्थिक विषमता, जाति-पाति की दीवार, धर्म और राजनीति के नापाक गठबंधन और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी रीति-नीति को भाँप लिया था और अपनी रचनाओं में इनका खुला विरोध किया। दुख की बात है कि आज भी राजनीति फासीवादी के कुचक्र, झूठ और पाखण्ड के चंगुल में फँसी हुई है। किसान और मजदूर आज भी अपने हक की लड़ाई लड़ रहे हैं, वैसे ही जैसे कभी उनके पुरखों ने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ी थी।

इन पंक्तियों को देखिए तो आज आन्दोलन करनेवाले किसानों का दुख-दर्द समझ में आ जाएगा। अंग्रेजी छल-कपट और क्रूरता का निर्लज्ज आधुनिक भारतीय संस्करण सामने आ जाएगा--

चालाकी में धौंस-धाँस में
दल्लालों की फोड़-फाँस में
फुसलाने में बहलाने में
डराने में धमकाने में
लुट्‌टस-पिट्‌टस की हलचल में
धन्ना सेठ के छल, बल, कल में
चतुर किसान नहीं आयेगा
वो अपना हिस्सा अपना हक
लेके रहेगा, लेके रहेगा
जीके रहेगा, मरके रहेगा
लेकिन अब कुछ करके रहेगा

('किसानों की पुकार' कविता की पंक्तियाँ)

फिराक गोरखपुरी को दुःख ने अपने हाथों से बनाया था। दुःख की आग ने उन्हें जलाया, तपाया और सोना बनाया था। वह लिखते हैं,

करीब-तर मैं हो चला हूँ दुःख की कायनात से
मैं अजनबी नहीं रहा हयात से ममात[1] से। (1. मृत्यु)
वो दुःख सहे कि मुझ प खुल गया है दर्दे-कायनात
है अपने आँसुओं से मुझ प आइना गमे हयात।

दुःख के आईने में उन्होंने संसार के दुःख को देखा, उसके कारणों को समझा और उसे खत्म कर देने का रास्ता भी ढूँढा। जीवन के संघर्षों और अनुभवों ने उन्हें यही सिखाया था कि शोषण, गैरबराबरी, गुलामी और दुःख को मिटाने का एक ही रास्ता है, पूँजीवाद को सारे जहाँ से मिटाने का। इन पंक्तियों में वह अपने जीवन का सार रख देते हैं--

अभी तो घन-गरज सुनायी देगी इन्कलाब की
अभी तो गोशबर[1] सदा है बज्म आफताब की।
अभी तो पूँजीवाद को जहान से मिटाना है
अभी तो साम्राजों को सजा-ए-मौत पाना है।
अभी तो इश्तिराकियत[2] के झण्डे गड़ने वाले हैं
अभी तो जड़ से कुश्तो-खूँ के नज्म उखड़ने वाले हैं।
अभी किसानो-कामगार राज होने वाला है
अभी बहुत जहाँ में कामराज होने वाला है।

(1. उत्सुक 2. समानता)

('शामे-अयादत' कविता की पंक्तियाँ)

फिराक साहब का एक और कमाले जिक्र काम है कि उन्होंने उर्दू भाषा और उसके साहित्यिक इतिहास पर बहुत महत्त्वपूर्ण

शेष पेज 14 पर...

श्रद्धांजलि

माराडोना ने एक ऐसी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया, जो हमें कानून की बेड़ियों से गुलाम बनाती है

-- पीटर रोनाल्ड डिसूजा

(यह लेख महान फुटबाल खिलाड़ी माराडोना की मौत पर द इण्डियन एक्सप्रेस में श्रद्धांजलि के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसमें माराडोना के व्यक्तित्व के जुझारूपन के बारे में उन्हीं के एक मशहूर गोल के जरिये बात की गयी है। शासकों द्वारा स्थापित की गयी कानूनी नैतिकता के खिलाफ माराडोना की लड़ाई, फुटबाल के मैदान और उसके बाहर हमेशा चर्चित रही है। मौजूदा समाजव्यवस्था में नैतिकता अक्सर शासक तय करते हैं, लेकिन माराडोना ने हमेशा उस नैतिकता को मानने से इनकार किया है, चाहे फुटबाल का मैदान हो या चाहे साम्राज्यवाद के खिलाफ जनान्दोलन।)

1986 में मैक्सिको में आयोजित विश्व कप के क्वार्टर फाइनल में इंग्लैण्ड के खिलाफ माराडोना ने अपना पहला गोल-- "हैण्ड ऑफ गॉड" (ईश्वरीय) किया। हालाँकि छल-बल से दागे गये गोल के रूप में इसकी खुलेआम निन्दा की गयी, जिसके लिए फुटबाल में कोई जगह नहीं होती। कुछ ने इसे "हैण्ड ऑफ द डेविल" (शैतानी) करार दिया। अगर कोई व्यक्ति केवल यूरोपीय कमेंट्री करनेवालों को पढ़े, तो वह इस गम्भीर नैतिक फैसले से सहमति जताएगा। यूरोप-वासियों का गुस्सा समझ में आने लायक है। फुटबाल के अपने कायदे-कानून हैं। हैण्डबॉल गोल इनका उल्लंघन था। इंग्लैण्ड को अर्जेंटीना से 1-2 से नहीं हारना चाहिए था।

चूँकि यह लेख "कुदरत के हाथ" के गोल के बारे में केवल एक नैतिक फैसले के ऊपर है। इसलिए चर्चा को अंग्रेजों की नाराजगी, जिसे मैं एक बेईमानी के रूप में देखता हूँ, उसके बजाय मैं सिर्फ इसी मुद्दे तक सीमित कर रहा हूँ। वह दूसरी बात है। असल बात यह है कि माराडोना ने केवल चार मिनट बाद फिर गोल किया, जिसे सदी का सर्वश्रेष्ठ गोल माना जाता है, जो गोल उसने पाँच अंग्रेज खिलाडियों को पछाड़कर किया था, हम यहाँ इस पर भी बात नहीं करेंगे। "कुदरत के हाथ" के बारे में नैतिक मुद्दों की गम्भीरता इस दूसरे शानदार गोल से हल्की नहीं हो जाती। इसलिए, अगर कोई सिर्फ फुटबाल के नियमों के सन्दर्भ में "हैण्ड ऑफ गॉड" गोल को देखता है, जिनमें हाथ से गोल करना गलत है तो यह गोल, भले ही वह रेफरी ने इसे नहीं देखा, तब भी अस्वीकार्य था। फुटबाल की बेइज्जती हुई। इस मजेदार खेल पर एक बुरा धब्बा लग गया। इसके लिए माराडोना को सजा तो मिलनी ही चाहिए थी।

हालाँकि, अगर आप एक अलग नजरिये से गोल को देखते हैं, अगर आप इसमें अर्जेंटीना की गरिमा का ख्याल रखते हुए तर्क करते हैं तो यह गलत नहीं लगता। और अगर गोल को "डर्टी हैण्ड" के नजरिये से देखें तो फिर यह तर्क देना ठीक है कि अंग्रेजों को इसके परिणाम को भी "खुशी-खुशी और बिना कड़वाहट वाली तहजीब को आत्मविश्वास के साथ" स्वीकार कर लेना चाहिए था। जैसा कि मैरी बीयर्ड ने ऑक्सफोर्ड के छात्रों से रोड्स मस्ट फॉल अभियान का विरोध करते हुए कहा था। माराडोना ने ईटन के मैदानों पर फुटबाल नहीं सीखा था, जहाँ खेल के नियम जरूर सिखाये जाते हैं लेकिन औपनिवेशिक गुलामी के नहीं। उन्होंने अपने शहर ब्यूनस आयर्स के मुहल्लों की तंग गलियों में अपना फुटबाल सीखा। यहाँ, फुटबाल ही सब कुछ है। अगर आप अच्छे हैं, तो यह आपको अपनी नाजुकी से बाहर निकलने का रास्ता बता देता है। यह आपको हीरो बना देता है, बढ़िया जिन्दगी जीने का मौका देता है और आपको एक स्टार बनाता है। माराडोना एक ऐसे प्रतिभाशाली इनसान थे, जैसे फुटबाल की दुनिया में बहुत कम देखने को मिलते हैं। उनके माता-पिता पेरोनवादी थे। माराडोना ने एक ऐसी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया, जो हमें कानून की बेड़ियों से गुलाम बनाती है। जो लोगों को कुचलने के लिए ही कानून बनाती है और जब ये कानून उन पर ही भारी पड़ने लगते हैं तो उन्हें फाड़कर फेंक देती है।

पाँच फुट पाँच इंच का माराडोना एक सीधे गोल का सामना कर रहे अंग्रेज गोलकीपर पीटर शिल्टन से ज्यादा उछल गया था, केवल एक नियम की वजह से वह नाकाम नहीं हो सकता था। बहुत कुछ दाँव पर था। इंग्लैण्ड को हराने की जरूरत थी। माल्विनास में 1982 के युद्ध में हार का बदला लेना जरूरी था। उस युद्ध के शिकार नौजवानों को सम्मानित किया जाना था। अंग्रेजों को अपमानजनक सबक सिखाना जरूरी था। उसे गोल करना ही था। वह ऐसा करने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगाने को तैयार था। और कुदरत ने माराडोना को एक हाथ देकर उन्हें छोटा कद देने की अपनी गलती का भुगतान किया।

ब्यूनस आयर्स की बस्तियों के लड़के की प्रवृत्ति हावी हो गयी। अपनी सारी चालाकी का इस्तेमाल करते हुए, उन्होंने हाथ से लगी गेंद को सर से लगी गेंद के रूप में पेश किया और गेंद को खुले गोलपोस्ट में डाल दिया। इसे पकड़ना रेफरी का काम था। पकड़ लेता तो शायद उन्हें सजा भी देता। अंग्रेजी कानून में इसे "अवरोधक वाले नियम" कहा जाता है। रेफरी ने हाथ से लगी गेंद को नहीं देखा। गोल किया जा चुका था। अर्जेंटीना ने उस मैच में बढ़त बना ली थी। माराडोना बहुत ऊँचे दाँव के लिए खेल रहा था। वह अपने लोगों के लिए खेल रहा था जो व्यवस्था के सताये हुए थे, वह अपने देश के लिए खेल रहा था जो युद्ध में इंग्लैण्ड से हार गया था, वह उन लोगों के सम्मान के लिए खेल रहा था जो इस युद्ध में शहीद हुए थे, उस पर नियमों के पालन का बोझ डालना महज भोलापन है। नियम का पालन रेफरी का काम था, इसे लागू करने का उसे अधिकार था। माराडोना ने मन ही मन जुआ खेला कि रेफरी इसे नहीं देखेगा। माराडोना बाजी जीत गये।

"डर्टी हैण्ड" एक तर्क के अलावा नैतिकता का एक सिद्धान्त भी है, जिसका इस्तेमाल करके माराडोना के गोल का बचाव किया जा सकता है। प्रिंसटन के दार्शनिक माइकल वाल्जर और कैम्ब्रिज के दार्शनिक बर्नार्ड विलियम्स इसको स्वीकार कर चुके हैं। यह साफ-साफ शब्दों में बताता है कि असामान्य परिस्थितियों में अनैतिक कार्य सही है, यानी हाथ गन्दा करना सही है अगर वह किसी ऊँचे नैतिक मकसद को हासिल करने के लिए किया गया हो। ऐसी परिस्थितियों में किसी के पास हाथ गन्दे करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं होता है। मेरा मानना है कि मेराडोना का गोल इन शर्तों को पूरा करता है। जब उसके सामने खाली गोलपोस्ट था तो वह नियमों के बारे में कैसे सोच सकता था। जब उसके दिमाग में नाच रहा था कि अर्जेंटीना के लिए इस गोल का मतलब क्या होगा तो उसके हाथों से थोड़ी सी मदद कोई बड़ा नैतिक अपराध नहीं था। किसी की जान नहीं गयी। "डर्टी हैण्ड" का नैतिक सिद्धान्त इस गोल को सही ठहराने के लिए खड़ा नहीं किया गया था।

दिलचस्प बात यह है कि महाभारत में "डर्टी हैण्ड" तर्क को बार-बार इस्तेमाल किया गया है। भगवान कृष्ण, कर्ण के खिलाफ युद्ध में अर्जुन के रथ का मार्गदर्शन करते हुए कर्ण को कीचड़ में अटके हुए रथ के पहिये को उठाने के लिए अपने हथियार एक तरफ रखते हुए देखते हैं। उसे असुरक्षित देखकर पहचानते हैं कि यही वह मौका है जब कर्ण को मारा जा सकता है। जिसे अगर यूँ ही गवाँ दिया गया तो इसका मतलब अर्जुन की हार होगी। कृष्ण ने अर्जुन से कर्ण पर तीर चलाने का आग्रह किया। यह युद्ध के नियमों का उल्लंघन था। जब कोई निहत्था होगा तो उस पर हमला नहीं किया जाएगा। लड़ाई तभी हो सकती है जब दोनों सशस्त्र हों। अर्जुन ने नियम तोड़ने में संकोच किया। भगवान कृष्ण ने उन्हें निहत्थे कर्ण पर तीर चलाने के लिए मजबूर किया। अर्जुन ने वही किया। कर्ण की मौत हो गयी। "हैण्ड ऑफ गॉड" का एक और कारनामा।

फिर, माराडोना को अपने हाथ से किये गये गोल के लिए गाली क्यों दी जाये? मेरे ख्याल से यह अनुचित है। दूसरे गोल ने माराडोना की प्रतिभा पर बहस को समाप्त कर दिया। वह एक मजे हुए कलाकार, उत्साही खिलाड़ी, फुटबाल का जानकार इनसान था। वह ब्यूनस आयर्स का लड़का था, जिसने इस व्यवस्था का सामना किया, इसे चुनौती दी, इसके द्वारा कुचला गया, लेकिन उसे कभी भी इसका पैरोकार नहीं बनाया जा सका। फुटबाल की दुनिया में वह चित्रकार विन्सेण्ट वान गॉग, शतरंज के विलक्षण खिलाड़ी बॉबी फिशर, बैले डांसर रुडोल्फ नुरेयेव, गणितज्ञ जॉन नैश के समकक्ष थे। उनकी जीवन शक्ति ने उन्हें दुनिया के साथ कदमताल करने की अनुमति नहीं दी। ऐसी जीवन शक्ति कभी भी ऐसा नहीं करती। माराडोना की अभी मृत्यु हुई है। माराडोना जिन्दाबाद।

अमरीकी संसद में 88 हजार रुपये मासिक बेरोजगारी भत्ता मंजूर

अमरीका संसद ने 748 अरब डॉलर (54,76,700 करोड़ रुपये) बेरोजगारी भत्ते के लिए मंजूर किया है। यह राशि भारत की जीडीपी की एक चौथाई के बराबर है, जो केवल वहाँ के बेरोजगारों की मदद के लिए सरकार की ओर से दी जायेगी। भारत में जहाँ एक ओर बेरोजगार नौजवान काम-धन्धे के लिए सड़कों पर मारे-मारे फिर रहे हैं और अपनी रोजी-रोटी की चिन्ता से ग्रस्त हो आत्महत्या कर रहे हैं, वहीं अमरीका अपने हर बेरोजगार को 88 हजार रुपये प्रति माह अतिरिक्त देने का बजट पास कर चुका है, जिसमें वहाँ की दोनों पार्टियों की सहमति है। इससे पहले भी वहाँ के बेरोजगारों को बेरोजगारी भत्ता मिलता था, उसके साथ ही नयी राशि उसे अतिरिक्त दी जायेगी।

अर्थशास्त्री इस पैकेज को दूसरे रूप में देख रहे हैं। अमरीकी सरकार ऐसा करके अपनी जनता पर कोई एहसान नहीं कर रही है, बल्कि लम्बे समय से आर्थिक मन्दी की शिकार अमरीकी अर्थव्यवस्था के संकट को हल करने के लिए यह कदम उठाया गया है क्योंकि इस पैकेज से जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी और कुछ हद तक ही सही अमरीकी अर्थव्यवस्था में गति आयेगी। लेकिन भारत के शासकों की सोच इतनी भी नहीं है, वे केवल जनता से छीनना जानते हैं, देना नहीं।

कृषि कानून खेत मजदूरों के हितों के भी खिलाफ हैं

पंजाब में 32 प्रतिशत आबादी मजहबी या रामदासिया समुदाय से आनेवाले दलितों की है, लेकिन उनके पास सिर्फ 3 प्रतिशत जमीन का ही मालिकाना है। इतनी बड़ी आबादी के लिए यह जमीन खेती करने के लिए अपर्याप्त है। इसलिए इस समुदाय की बड़ी आबादी बड़े किसानों के खेतों में 350 रुपये दिहाड़ी पर खेती का काम करती है। 2011 की जनगणना के अनुसार पंजाब में 11 लाख श्रम बल कार्यरत था जिसमें से लगभग 50 प्रतिशत खेतिहर मजदूर था। इनमें अधिक संख्या दलितों (मजहबी या रामदासिया) की है। इसके अलावा खेती से जुड़े व्यवसाय पर भी बड़ी आबादी का जीवन निर्भर है। लेकिन ये खेत मजदूर, खेती से जुड़े अलग-अलग व्यवसाय करने वाले लोग और छोटे किसान भी बड़ी संख्या में नये कृषि कानूनों के खिलाफ चल रहे देशव्यापी किसान आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी और समर्थन कर रहे हैं। ऐसा क्यों?

दरअसल सरकार और सरकार पोषित मीडिया लगातार इस झूठ का प्रचार कर रही है कि यह कृषि कानून छोटे किसानों और खेत मजदूरों के हित में है, लेकिन खुद भूमिहीन खेत मजदूर, छोटे किसानों और खेती किसानी से जुड़े दूसरे व्यवसायों में लगे लोगों का मानना है कि यह कानून उनके हित में नहीं, बल्कि इससे उन्हें नुकसान होगा, यह सिर्फ बड़े कार्पोरेट घरानों-- अडानी-अम्बानी को ही फायदा पहुँचाएगा। तीनों कानूनों से यह साफ पता चलता है कि ये कानून छोटे किसान, खेतिहर मजदूर और खेती से जुड़े दूसरे व्यवसायों में मजदूरी करने वाले लोगों के हित में नहीं, बल्कि नुकसानदेह है। ये कानून उनसे मौजूदा रोजगार और काम-धन्धे को छीन कर उन्हें बड़े कार्पोरेटों का गुलाम या बेरोजगार बना देंगे।

किसान और उसके खेत में काम करने वाले मजदूर के बीच एक सम्बन्ध होता है। हालाँकि इसमें कोई दो राय नहीं कि धनी किसान खेत मजदूरों का शोषण करता है। खेत की बुआई, निराई, फसल कटाई और उसे मण्डी में ले जाकर बेचने तक सब काम मजदूर ही करता है, फिर भी मजदूर सिर्फ दिहाड़ी पाता है जिससे वह अपने परिवार का किसी तरह गुजारा करता है जबकि फसल बेचने के बाद जो बचता है वह किसान रख लेता है। लेकिन नये कृषि कानून क्या इस शोषण को कम करेंगे या उसे और ज्यादा बढ़ा देंगे? जाहिर है कि ये कानून मजदूरों के हित में नहीं बनाये गये हैं। कैसे?

पहली बात यह कि एक बार निजी मण्डी स्थापित होने और सरकारी मण्डी तबाह होने के बाद पूँजीपति सस्ते में किसानों को फसल बेचने के लिए मजबूर करेंगे जिससे किसानों की आय कम होगी या वे तबाह हो जायेंगे। परिणामस्वरूप उनके खेतों में काम करने वाले मजदूरों की दिहाड़ी भी कम हो जायेगी और खेत मजदूरों का जीवन और बदतर हो जाएगा। आय कम होने से पहले से ही बदहाल खेत मजदूर का परिवार शिक्षा, स्वास्थ्य और भर पेट भोजन जैसी मूलभूत जरूरतों से और भी दूर हो जाएगा।

दूसरा, कृषि क्षेत्र बड़े पूँजीपतियों के हाथ में आ जाने के बाद वे बड़ी सँख्या में बड़ी-बड़ी आधुनिक मशीनों को लाकर मजदूरों को खेती से बाहर धकेल देंगे। पहले जिस फसल के उत्पादन में दस मजदूरों की जरूरत होती थी एक बार मशीनें आ जाने के बाद उस काम को दो मजदूरों से कराया जायेगा। बाकि आठ मजदूरों को भूखों मरने के लिए छोड़ दिया जायेगा या वे मजदूर शहरों, औद्योगिक इलाकों की तरफ पलायन करेंगे जहाँ पहले ही बेरोजगारी और मजदूरों का शोषण अपने चरम पर है। इसकी एक झलक हमने कोरोना काल के दौरान देखी। वहीं दूसरी तरफ सरकारी मण्डी व्यवस्था तबाह हो जाने के बाद आढ़तियों, माल ढुलाई और मण्डी के रख-रखाव, साफ-सफाई इत्यादि काम करने वाले मजदूरों का रोजगार भी खत्म हो जाएगा।

तीसरा, यह खबर कई बार अखबारों और दूसरे माध्यमों से सामने आ चुकी है कि अडानी ग्रुप ने देश भर में कई जगह वेयरहाउस/साइलो (विराट अनाज गोदाम) का निर्माण कराया है जिनमें हरियाणा के कैथल में बना 2.25 लाख टन क्षमता वाला साइलो स्टारेज शामिल है। फाईन्सियल एक्सप्रेस 2008 में छपी एक रिपोर्ट में बताया गया है कि अडानी ग्रुप ने 2005 से अब तक पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल में 5.75 लाख टन क्षमता वाले वेयरहाउस/साइलो स्टोरेज बनवाये हैं जिनकी संख्या पूरे देश में 13 से ज्यादा है। यहाँ तक कि अडानी ग्रुप की एक संस्था एएएलएल ने एफसीआई के साथ करार किया कि एफसीआई जो फसल खरीदेगा उसे इन्हीं वेयरहाउस/साइलो में रखेगा जिसका किराया एफसीआई संस्था एएएलएल को देगी। दूसरी तरफ रिलाइन्स समूह जो 2006 से ही खुदरा बाजार में अपने पैर पसारने और खुदरा बाजार पर कब्जा करके छाटे-बड़े दुकानदारों को बाजार बाहर करने का भरसक प्रयास कर रहा है। इस समूह ने अब तक पूरे देश में 621 रिलाइन्स फ्रेश/स्मार्ट स्टोर और 52 रिलाइन्स मार्केट खोले हैं

जिनमें फल-सब्जी समेत रोजमर्रे की जरूरत के सभी सामान मिलते हैं। इससे साफ जाहिर होता है कि अडानी और रिलाइन्स दोनों फसल खरीद से लेकर वितरण तक की पूरी प्रक्रिया पर अपना कब्जा जमाना चाहते हैं। यही कारण है कि सरकार इन कानूनों को वापस नहीं ले रही है। इन कानूनों के लागू होने पर सिर्फ धनी किसान ही नहीं बल्कि करोड़ों छोटे किसानों, खेत मजदूरों, आढ़तियों और सरकारी मण्डियों में काम करने वाले मजदूरों तथा छोटे-बड़े दुकानदारों और खेती से जुड़े तमाम कारोबार में लगे लोगों का धन्धा चौपट हो जाएगा।

इन बातों से साफ पता चलता है कि अडानी और अम्बानी और मोन्सण्टो, कारगिल, आईटीसी जैसे मुनाफाखोर पूरे देश की कृषि प्रणाली को अपने कब्जे में करना चाहते हैं जिससे ये अकूत मुनाफा बटोर सकें। सरकार भी इस मामले में इन्हीं कम्पनियों के मालिकों के साथ खड़ी है, बल्कि इन्हीं के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। आज यह बात सभी के समझ में आ गयी है। यहाँ तक कि पूरे गाँव और कस्बों की अर्थव्यवस्था ही खेती से चलती है, चाहे दर्जी हो, बढ़ई हो, लुहार हो, राजमिस्त्री हो, ट्रैक्टर मैकेनिक हो या बहुत सारे काम धन्धों से अपनी रोजी रोटी चलाने वाले लोग हों। जब खेती से होने वाली आय गाँव तक नहीं पहँचेगी तो उसका असर इन सभी काम धन्धों पर पड़ेगा।

इसीलिए सिर्फ बड़े किसान, मध्यम और गरीब किसान ही नहीं बल्कि खेती से जुड़े हर पेशे के लोग छोटे व्यापारी, दुकानदार, आढ़ती, मण्डियों में काम करने वाले मजदूर और खेत मजदूर भी इस आन्दोलन का बढ़-चढ़कर समर्थन कर रहे हैं, इसमें हिस्सेदारी कर रहे हैं और इस आन्दोलन को मजबूत बना रहे हैं।

-- कुलदीप रेयाज

किसान आन्दोलन : लीक से हटकर एक विमर्श

वर्तमान किसान आन्दोलन प्रकट रूप से तीन नये कानूनों के विरोध में हैं। लेकिन कोई भी मुहिम या आन्दोलन का सिलसिला तभी तक ऊर्जापूर्ण रह सकता है जब तक उसके पीछे अव्यक्त कारक सक्रिय हों। समाजशास्त्रीय भाषा में इसे लैटेण्ट फंक्शन कहा जाता है। यह लैटेण्ट फंक्शन ही है जो किसी सामाजिक संस्था या पम्परा को कायम रखते हैं।

यह आन्दोलन एक ऐतिहासिक आन्दोलन है क्योंकि यह केवल तीन कानूनों को रद्द करवाने के मुद्दे से ही ऊर्जा ग्रहण नहीं कर रहा है बल्कि दर्जनों आयाम इसको मजबूती प्रदान कर रहे हैं।

सन 2014 के बाद से हमारा देश एक नयी राजनीतिक-सामाजिक संस्कृति का न केवल साक्षी है बल्कि भुक्तभोगी भी है। हरेक प्रकरण की एक नये सिरे से व्याख्या की जा रही है जिसका केन्द्रबिन्दु किसी ना किसी प्रकार से हिन्दू बनाम मुसलमान रहा है। यह मुद्दा लगातार जिन्दा रहे उसके लिए मुख्य धारा की मीडिया और एक सुनियोजित सोशल मीडिया को हथियार की तरह इस तरीके से इस्तेमाल किया जाता रहा है कि सौ फीसदी झूठ भी सच लगने लग जाये। झूठा इतिहास, झूठी कहानियाँ, ट्रोल आर्मी द्वारा टारगेट बना कर किसी का भी चरित्रहनन, मॉब लिंचिंग का समर्थन, कोरोना जिहाद जैसी मनगढ़न्त कहानी को आम व्यक्ति के मन में सच्चाई के रूप में बैठा देना ऐसे कुछ एक उदाहरण हैं जिनकी एक लम्बी सूची है।

ऐसे वातावरण में शान्तिप्रिय और सेक्यूलर किस्म के लोगों में एक हताशा का एहसास होना स्वाभाविक है। गाहे-बगाहे उनकी आवाज को भी दबाने के लिए एक नई शब्दावली गढ़ ली गयी। उन्हें टुकड़े टुकड़े गैंग, राष्ट्रविरोधी, अर्बन नक्सल आदि खिताब देकर ट्रॉल आर्मी के हवाले कर दिया जाना आम बात रही है ताकि उनके दिलों में खौफ भर दिया जाये और बाकी लोग भी डर कर रहे। यूएपीए का खुल कर प्रयोग किये जाने के कितने ही उदाहरण हमारे सामने हैं।

बहरहाल, उपरोक्त प्रकरण को लम्बा ना खींचते हुए संक्षेप में यूँ कहा जा सकता है राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक मूल्यों को दरकिनार करना मौजूदा निजाम की आवश्यकता भी है और मजबूरी भी क्योंकि हिन्दू बनाम मुसलमान की धुरी पर कायम रहना ही इन्हें सत्ता में रहने की गारण्टी देता है। और इसके लिए अन्य सभी मुद्दे सहज ही दोयम दर्जे पर खिसक जाते हैं। अब पूरे तामझाम को बनाये रखना है तो थैलीशाहों के साथ गुप्त समझौता भी आवश्यक है जो न केवल चुनाव जीतने के लिए धन, बल्कि जनमत बनाने के लिए मीडिया हाउस भी उपलब्ध कराता है। यह काम मुफ्त में तो नहीं होता है, बदले में उन्हें अपने हिस्से का मांस का पाउण्ड भी चाहिए। नये कृषि कानूनों की गहराई में जाने के बजाय इतना कहना पर्याप्त होगा कि निजीकरण के लम्बे

सिलसिले का एक मुकाम इन कानूनों में स्पष्ट है। हमारे देश में कृषि उपज का बाजार अपरम्पार है और न्यूनतम समर्थन मूल्य, मण्डी व्यवस्था और आवश्यक वस्तुओं का नियमन सबसे बड़े अवरोध हैं जो बड़े कॉरपोरेट को इस बाजार पर कब्जा जमाने बाधक है। कोई हैरानी की बात नहीं होगी अगर आनेवाले समय में बैंकों का स्वामित्व भी इन्हें सौंप दिया जाये।

यह आन्दोलन ऐतिहासिक क्यों है? मौजूदा निजाम को पहली बार अपने आईटी सेल के घुड़सवारों को अस्तबल में वापस भेजना पड़ा और ट्रॉल आर्मी के सिपहसालारों को निठल्ला बैठना पड़ा है। कितनी बेबसी हो गयी है कि अवार्ड वापस करने वालों को पिछली बार की तरह अवार्ड वापसी गैंग कह कर ट्रॉल करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रही है। जो निजाम मुख्यतः मनगढन्त व्याख्या के आधार पर किसी भी आन्दोलन को बदनाम करने और दबा देने में सिद्धहस्त रहा हो, उसका शस्त्रविहीन होना एक ऐतिहासिक घटना है। एक लम्बे अर्से से भुक्तभोगी नौजवान, छात्र, मजदूर, छोटा व्यापारी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन का सहभागी बन गया है। 8 दिसम्बर को भारत बन्द के आह्वान पर हर प्रकार का तबका चाहे वे पेट्रोल पम्प वाले हो या ट्रांसपोर्टर या व्यापार संघ वाले, सभी जोशपूर्ण तरीके से समर्थन में उतरे। विपक्षी पार्टियों द्वारा भी किसानों में अपना जनाधार बचाये रखने की मजबूरीवश किसानपरस्त चेहरा रखना आवश्यक हो जाता है।

सवाल उठता है कि आईटी सेल और ट्रोल आर्मी एक बार थोड़ी सी सक्रिय हुई थी जब खालिस्तानी, पाकिस्तानी, सौ-सौ रुपये के दिहाड़ीदार, काँग्रेस के भड़कावे में आदि-आदि मसाला सोशल और मेनस्ट्रीम मीडिया में देखने-सुनने को मिलने लगा था, लेकिन जल्द ही होंठ सील लिये गये। दो मुख्य कारण हैं जिनकी वजह से इस प्रकृति के प्रचार-प्रसार पर लगाम लगाई गयी है। पहला कारण आन्तरिक है जब सत्तापक्ष में टूट और जनता के सवालों का तार्किक जवाब की कंगाली महसूस होने लगी। दूसरा कारण इतने बड़े जनान्दोलन से टक्कर लेने के सवाल पर शक्तिहीनता का एहसास है।

इस आन्दोलन के अगुवा पंजाब के किसान हैं जिनकी अनेक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक जड़ें हैं। सिक्ख गुरुओं की कुर्बानी, बन्दा बहादुर द्वारा किसानों को जमीन की मल्कियत देना, सिक्ख मिसलों द्वारा नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की फौज से बार-बार मुकाबला करते हुए पतनशील मुगल साम्राज्य में अपनी ताकत का इजाफा और गुरुद्वारों को महन्तों से मुक्त करवाने के लिए एक लम्बा, शान्तिपूर्ण और कुर्बानियों भरा सफल अकाली मोर्चों की विरासत वाले किसानों की आत्मा जमीन और खेती में रची-बसी है। हरित क्रान्ति को जीवित रखने के लिए मण्डी व्यवस्था भी पंजाब में सबसे अधिक मजबूत रही है। आजादी की लड़ाई, जलियाँवाला बाग से लेकर खालिस्तान आन्दोलन जैसे उतार-चढ़ाव से गुजरे पंजाबियों को अपनी एक सशक्त अस्मिता की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता उन्हें इस मुकाम पर ले आई है कि मजबूत, बेखौफ, और लम्बी लड़ाई के लिए उनकी तैयारी देखते ही बनती है। यही वजह है कि देश-विदेश के पंजाबियों से इस आन्दोलन को भरपूर समर्थन मिल रहा है।

इसके अलावा, कृषि का संकट लगातार किसी न किसी रूप में किसानों को बेचैन करता रहा है और तमाम पहलुओं को जोड़ते हुए अब उन्हें लगने लगा है कि इतना तो अवश्य है कि खेतिहर किसान को एक न्यूनतम आय की गारण्टी होनी ही चाहिए। यही सूत्र प्रत्येक राज्य के किसानों की मानसिकता को जोड़ रहा है। जहाँ मण्डी व्यवस्था नहीं है उन राज्यों के किसानों को भी लगने लगा है कि उन्हें भी अपनी फसल का न्यूनतम मूल्य तो मिलना ही चाहिए।

इन तमाम तथ्यों के आधार पर एक बार फिर से वर्तमान किसान आन्दोलन को ऐतिहासिक आन्दोलन करार दिया जा रहा है क्योंकि इस हलचल से उठने वाली लहरें अनेक आयामों को छुएँगी जिनके दूरगामी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिणामों के निकट भविष्य में हम साक्षी होंगे।

-- सुरेन्द्र पाल सिंह

नये साल की शुभकामनाएँ!

नये साल की शुभकामनाएँ!
खेतों की मेड़ों पर धूल भरे पाँव को
कुहरे में लिपटे उस छोटे से गाँव को
नये साल की शुभकामनाएँ!
जाँते के गीतों को बैलों की चाल को
करघे को कोल्हू को मछुओं के जाल को
नये साल की शुभकामनाएँ!
इस पकती रोटी को बच्चों के शोर को
चौंके की गुनगुन को चूल्हे की भोर को
नये साल की शुभकामनाएँ!

-- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

किसान आन्दोलन के खिलाफ फेसबुक का सरकारपरस्त रवैया

फेसबुक पर पिछले कई हफ़्तों से जारी किसान आन्दोलन के मामले में सरकारपरस्त होने का आरोप लग रहा है। किसान एकता मोर्चा ने अपनी बात ज्यादा लोगों तक पहुँचाने के लिए फेसबुक पर अपना खाता खोला और लोगों को उससे जुड़ने की अपील की। 20 दिसम्बर को जब इस पेज पर किसानों के कार्यक्रम का सीधा प्रसारण हो रहा था, तब अचानक इस पेज को बन्द कर दिया गया। हालाँकि सोशल मीडिया पर तमाम लोगों ने इसके खिलाफ जबरदस्त आक्रोश जताया। उनके अभियान के चलते फेसबुक ने किसानों के इस पेज से पाबन्दी हटा दी और साथ सफाई भी दिया है कि स्वचालित प्रोग्राम ने जब पाया की इस पेज पर गतिविधि बहुत ज्यादा बढ़ रही है, तब गलत तथ्य प्रसारित होने से रोकने के लिए प्रोग्राम ने खुद ही इस पेज को निष्क्रिय कर दिया। लेकिन जब मुस्लिम-विरोधी, महिला-विरोधी, दलित-विरोधी और फासीवादी पेज पर गतिविधि बढ़ती है, तब यही स्वचालित प्रोग्राम कुछ नहीं करता है, जैसे उस प्रोग्राम को पता हो कि इन हिन्दुत्ववादी कार्यक्रमों पर अनुशासनात्मक कार्रवाई करते ही उसे सरकार की नाराजगी झेलनी पड़ेगी।

पिछले दिनों अमरीका के "द वाल स्ट्रीट जर्नल" ने ऐसे ही कई मामले को एक रिपोर्ट में प्रकाशित किया था, जिसे लेकर हिन्दुत्ववादी संगठन बजरंग दल बेहद नाराज हुआ और उसने इस अखबार के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की धमकी भी दे डाली। "द वाल स्ट्रीट जर्नल" की रिपोर्ट में कहा गया कि फेसबुक ने साम्प्रदायिक हिंसा के प्रचार पर चेतावनी के बावजूद कोई पावन्दी नहीं लगायी क्योंकि उन्हें भारत में अपने कारोबार में हानि पहुँचने की आशंका थी। आँखी दास जो फेसबुक की भारत तथा दक्षिणी एशिया की नीति निर्धारक कमेटी की प्रधान थीं, उनकी भूमिका को लेकर कुछ महीने पहले इस अखबार ने सवाल उठाया था, जिसके चलते दास को अपने पद से इस्तीफा भी देना पड़ा और भारत के संसदीय कमेटी के सामने पेश होना पड़ा।

राजनीति के क्षेत्र में फेसबुक की ऐसी दखलंदाजी पहली बार नहीं है। कैथी अपनी किताब में इसके बारे में पूरा अध्याय खर्च करते हुए कहती हैं कि 2010 से ही फेसबुक ने छोटे-छोटे परीक्षण (वोटर मेगाफोन) के जरिये ये समझने में सक्षम हो गया था कि उनके प्रोग्राम में रत्तीभर इधर-उधर करके बहुत बड़ी आबादी की राय बदली जा सकता है। मसलन, आपके दिवार में किस तरह के पोस्ट या खबरें दिखायी जायेंगी यह सब फेसबुक के दफ्तर में बैठे प्रोग्रामर तय करते हैं। आप बस जिस तरह के खबर रोज देखते रहते हैं, जिन दोस्तों की बात रोज पढ़ते हैं, या तो आप उसका हिस्सा बन जाते हैं या उससे दूरी बना लेते हैं। भारत की तरह अमरीका में भी फेसबुक ने मतदाताओं को खासकर नये लोगों को, वोट डालने में प्रोत्साहित करने का कार्यक्रम शुरू किया था। 'वोटर मेगाफोन' परीक्षण में बस आपको "आई वोटेड" (मैंने वोट दिया है) बटन दबाना था। इसी ने कमाल कर दिया। लोग पड़ोसी को वोट देते हुए देखकर नहीं, बल्कि "मैंने वोट दिया है" ये जाहिर न करने पर जो प्रतिक्रिया देंगे उसके लिहाज से भारी मतदान हुआ था। शोधकर्ताओं ने पाया है कि इस अभियान के चलते 3,40,000 लोगों का मतदान बढ़ गया है। स्पष्ट है कि चुनाव के दिन फेसबुक के प्रोग्राम को थोड़ा सा इधर-उधर करके न सिर्फ अमरीकी कांग्रेस के सन्तुलन को बदला जा सकता है, बल्कि राष्ट्रपति तय किया जा सकता है।

2019 के लोकसभा चुनाव से कुछ महीने पहले मशहूर शोध-पत्रिका इकॉनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली के पूर्व-सम्पादक परंजॉय गुहा ठाकुरता और पत्रकार सीरिल सैम ने एक किताब लिखी और खुद ही प्रकाशित किया था। उसका नाम है 'फेसबुक का असली चेहरा'। इसमें उन्होंने दर्ज किया कि फेसबुक कैसे भारतीय राजनीति में चलने वाली बहस का सर्वोच्च नियंत्रक बन चुका है। सिर्फ भारत ही नहीं, बल्कि यूरोप और अमरीका के भी डिजिटल अधिकार कार्यकर्ताओं ने बारबार फेसबुक में हिंसात्मक, मुस्लिम-विरोधी, महिला या दलित-विरोधी पोस्ट या विडियो के प्रसारण न रोके जाने पर लगातार फेसबुक के 'कम्युनिटी गाइडलाइन' (अक्सर जिसकी दुहाई देकर आपके पोस्ट या पेज को निष्क्रिय कर दिया जाता है) को सबके सामने रखने की माँग की है। लेकिन उसका कोई खास फायदा नहीं हुआ है। प्रधान मन्त्री नरेद्र मोदी के बारे में किसी आलोचनात्मक पोस्ट को छाँटकर फेसबुक उन्हें आगे फैलने से रोकता है, जबकि उनके समर्थक एक पूरी कौम को दुनिया से मिटाने की बात करते हैं, और उसको नहीं हटाया जाता।

इससे दो बाते स्पष्ट हो जाती हैं। एक, फेसबुक खुद को दुनियाभर के फासीवादी शासकों के अत्याधुनिक हथियार के रूप में स्थापित कर चुका है, चाहे अपनी वेबसाइट को स्वस्थ्य लोकतान्त्रिक बहस बनानेवाला कितना ही कर ले। इसके संस्थापक मार्क जुकरबर्ग को जब पत्रकारों और राजनेताओं ने घेरा कि वे खुद यहूदी होकर भी कैसे किसी पूरी कौम को मिटा देने वाली हिंसा के प्रचार में सहायक हो रहे हैं? तो जवाब में उन्होंने सवाल करने वालों पर यहूदी-विरोधी होने का आरोप भी लगा दिया। यही काम भारत में उनके दोस्त मोदी साहब भी करते हैं। दूसरी बात है, जनान्दोलन की ताकत, जो फेसबुकिया फर्जी सेनाओं के चलते ही समझ में आयी है। यह बात सही है कि जब फेसबुक आपको इस्तेमाल करने के इरादे से ही काम कर रहा हो तब आप उसे उसी के खिलाफ इस्तेमाल करने में उतना सफल नहीं रहेंगे। लेकिन, पिछले साल नागरिकता संशोधन विरोधी आन्दोलन और इस साल किसान आन्दोलन ने सिखा दिया है कि फर्जी आईटी सेनाओं की टुकड़ी जमीनी लड़ाई के प्रचार के सामने छोटा पड़ जाती है।

-- अमित इकबाल

किसान आन्दोलन को तोड़ने का कुचक्र

13 दिसम्बर 2020 की टाइम्स ऑफ इण्डिया की एक खबर के अनुसार आईआरसीटीसी और अन्य सरकारी विभाग उन लोगों को इमेल भेज रहे हैं जो "पंजाब" से हों और उनके नाम के साथ "सिंह" आता हो। इस इमेल में 47 पेज की एक पीडीएफ फाइल है जो हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेजी भाषा में है। इसका शीर्षक है "मोदी और उनकी सरकार का सिखों के साथ विशेष सम्बन्ध।" आईआरसीटीसी के मुख्य अधिकारी सिद्धार्थ सिंह का भी बयान आया है कि इस तरह के इमेल सरकार के सभी विभागों द्वारा भेजे जा रहे हैं।

इस घटना से दो सवाल उठते हैं? पहला कि यह इमेल केवल उन लोगों को ही क्यों भेजे जा रहे हैं जो पंजाब से सम्बन्ध रखते हैं? दूसरा सवाल, यह इमेल केवल उन लोगों को ही क्यों भेजे जा रहे हैं जिनके नाम के साथ सिंह आता है? इन इमेलों के माध्यम से सरकार विशेष रूप से सिखों पर की गयी मेहरबानियों को गिना रही है। लेकिन सिर्फ सिखों को ही क्यों?

हाल ही में मोदी सरकार ने तीन कृषि कानून बनाये हैं। किसान इन कानूनों को अपने और बाकी जनता के खिलाफ बता रहे हैं। इसीलिए पिछले कई दिनों से किसान सड़कों पर हैं। वे दिल्ली और देश के अलग-अलग हिस्सों में बेहद रचनात्मक तरीके से शान्तिपूर्ण आन्दोलन कर रहे हैं। इस आन्दोलन ने सरकार को लोहे के चने चबाने पर मजबूर कर दिया है। इसलिए सरकार इस आन्दोलन को तोड़ने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रही है। सरकार ने किसानों के ऊपर ठण्डे पानी और लाठियों को बरसा रही है। भारी संख्या में पुलिस बल और अन्य रिजर्व बालों को तैनात किया गया है। इसके अलावा सरकार अपने दलालों को जासूसी करने के लिए उनके आन्दोलन में घुसा रही है। लेकिन किसान सचेत हैं और किसानों ने ऐसे कई सरकारी जासूसों को पकड़कर आन्दोलन से बाहर कर दिया है। इससे सरकार की बहुत किरकिरी हो रही है। जब सरकार के किसी भी हथकण्डे से काम नहीं चला तो अब वह विज्ञान और तकनीक का उपयोग किसानों की जासूसी और उनकी आपसी एकता को तोड़ने में कर रही है। रेल यात्रा के दौरान या फार्म भरने के दौरान जो भी जानकारियाँ लोगों ने भरी थीं उनको सरकार अपने लिए इस्तेमाल कर रही है। इससे किसान आन्दोलन को जाति-धर्म पर बाँटकर पथभ्रष्ट करना चाहती है।

आन्दोलन कर रहे किसानों में बड़ी संख्या पंजाब से है। और पंजाब के ज्यादातर किसानों के नामों के साथ सिंह आता है। यही कारण है कि सरकार ने छुद्रता की सारी हदें पार करते हुए लोगों की जानकरियों का इस्तेमाल आन्दोलनकारियों की एकता तोड़ने में कर रही है। इसलिए सरकार पंजाब के उन किसानों को इमेल भेज रही है जिनके नाम के साथ सिंह आता है। और वह उन्हें लुभाना चाह रही है कि देखो, सिख धर्म के लिए सरकार ने कितना काम किया है? यह लोगों की निजता का उल्लंघन है। क्या किसी लोकतान्त्रिक देश में ऐसा उचित है? आज सिखों को इमेल भेजे जा रहे हैं, कल मुसलमानों को, फिर जैन समुदाय के लोगों को और कभी हिन्दुओं को?

किसानों को बेहद सावधान होकर अपनी एकता का प्रदर्शन करने की जरूरत है। सरकार बेशर्म हो चुकी है। वर्तमान सरकार हिटलरशाही के रास्ते पर आगे बढ़ रही है? उसे लाखों किसानों की आवाज नहीं सुनाई दे रही है? किसानों की आवाज सुनने के बजाय वह व्यक्तिगत निजता का उल्लंघन करने और जनता में फूट डालने पर उतारू हो गयी है।

-- ललित कुमार

पेज 35 का शेष.....

कहा है कि नागरिकता सत्यापन प्रक्रिया पूरे देश में लागू की जाएगी और पड़ोसी देशों के सभी अनियमित प्रवासियों को शामिल करने के लिए नागरिकता कानूनों में संशोधन किया जाएगा, लेकिन मुसलमानों को इस सूची से बाहर रखा जाएगा।

अल्पसंख्यकों के अलावा आदिवासियों के खिलाफ फरवरी में सुप्रीम कोर्ट का उन लोगों को बेदखल करने का फैसला आया जिनके दावे वन अधिकार कानून के तहत खारिज कर दिये गये थे। इस फैसले से लगभग 20 लाख आदिवासी समुदाय के लोगों तथा वनवासियों पर जबरन विस्थापन और रोजी-रोटी के छीन जाने का खतरा बना हुआ है। भारत सरकार ने इस रिपोर्ट पर अपनी नाराजी जाहिर की और कहा कि किसी विदेशी संस्था का भारत के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं है। यदि यह मान भी लीया जाये कि यह रिपोर्ट कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है और पूर्णतः निष्पक्ष नहीं है, तो भी प्रश्न यह उठता है कि दर्शाये गये तथ्यों को खारिज भी तो नहीं किया जा सकता। भारत के अन्दर भी इन घटनाओं का लगातार विरोध होता रहा है और सरकार अपने विरोधियों को चुप करने के लिए हर तरह की दमनात्मक और प्रतिशोध लेने वाली कार्रवाई करती नजर आयी है। क्या दुनिया के एक सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में सत्तापक्ष के इस तरह के व्यवहार को उचित ठहराया जा सकता है?

उत्तर प्रदेश : लव जेहाद की आड़ में धर्मान्तरण के खिलाफ अध्यादेश

25 नवम्बर को टाइम्स ऑफ इण्डिया के पहले पन्ने पर 'जबरदस्ती धर्मान्तरण' और 'लव जेहाद' से सम्बन्धित तीन खबरें हैं। पहली खबर विधायिका, दूसरी कार्यपालिका और तीसरी न्यायपालिका की कार्यवाही से सम्बन्धित है। जो हमारे देश में लोकतन्त्र को संचालित करने वाली शासन प्रणाली के तीन अंग हैं। देखें कि इन तीनों की गतिविधियों में कितना तालमेल है और व्यवस्था के तीनों अंग एक ही मुद्दे को किस तरह देखते हैं।

पहली खबर के मुताबिक उत्तर प्रदेश की योगी सरकार की कैबिनेट ने 24 नवम्बर को एक मसविदा अध्यादेश स्वीकृत किया, जिसका उद्देश्य शादी लिए धर्मान्तरण से निपटना है। पिछले कुछ हफ्तों के भीतर भाजपा शासित राज्यों-- उत्तर प्रदेश, हरियाणा और मध्य प्रदेश में कथित रूप से शादी की आड़ में हिन्दू महिलाओं को इस्लाम में धर्मान्तरण करने की कार्रवाई को, जिसे हिन्दूवादी संगठन 'लव जेहाद' कहते है उसे रोकने के लिए कानून बनाने की चर्चा चल रही थी, सरकार के मुताबिक धोखाधड़ी, झूठ और जोरजबरदस्ती हिन्दू औरतों का धर्मान्तरण किया जा रहा है। इसके लिए इस नये कानून में एक से पाँच साल तक की सजा और 15,000 रुपये जुर्माने का प्रावधान है। अगर लड़की नाबालिग या अनुसूचित जाति-जनजाति की हो तो तीन साल से दस साल तक की सजा और 25,000 रुपये जुर्माना का प्रावधान है। शादी के बाद धर्म परिवर्तन करने वालों के लिए भी इस कानून के तहत जिला मजिस्ट्रेट से दो महीने पहले अनुमति लेना जरूरी होगा।

दूसरी खबर विशेष जाँच दल (एसआईटी) की है जिसे कानपुर में 'लव जेहाद' के 14 मामलों के तहकीकात की जिम्मेदारी दी गयी थी जिन मामलों में पुलिस ने अभियुक्तों पर मामले दायर किये थे। रिपोर्ट में उनमें से किसी भी मामले में विदेशी फण्डिंग या किसी गैंग के द्वारा संगठित षडयन्त्र का सबूत नहीं पाया गया।

अन्तर्धार्मिक विवाह के इन 14 मामलों में लड़कियों के माँ-बाप ने आरोप लगाया था कि उनकी लड़कियों के साथ मुस्लिम लड़कों ले धोखा किया। इनमें से 11 मामलो में आरोपियों को जेल भेजा गया था, जबकि तीन मामलों में लड़कियों ने अपने प्रेमियों के बचाव में बयान दिया था। इन तीनों मामलों में आगे जाँच नहीं की गयी। एसआइटी की रिपोर्ट के मुताबिक इन मामलों में चार आदमी एक दूसरे को जानते थे और तीन ने कथित रूप से अपना नाम दूसरे धर्म वाला बताया था। लेकिन इन मामलों की जाँच में किसी गिरोह की सक्रियता या सामुहिक षड़यंत्र का कोई प्रमाण नहीं मिला। जाहिर है कि उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित विशेष जाँच दल ने इन मामलों में कथित 'लव जेहाद' या 'संगठित धर्मान्तरण' के आरोपों को खारिज कर दिया।

तीसरी खबर इलाहाबाद हाई कोर्ट के एक फैसले से सम्बन्धित है। कुशीनगर के सलामत अंसारी और प्रियंका खरवार उर्फ आलिया के खिलाफ 25 अगस्त 2019 को प्राथमिकी दर्ज की गयी थी, जिसे खारिज कराने के लिए उन्होंने हाई कोर्ट में अपील की थी। उनका कहना था कि विवाहित जोड़ी बालिग है और उन्हें अपनी पसन्द से शादी करने का अधिकार है। लड़की के पिता के वकील ने इस अपील के विरोध में तर्क दिया कि शादी के लिए धर्मान्तरण वर्जित है और ऐसी शादी को वैधानिक स्वीकृति नहीं है।

दोनों पक्षों की दलील सुनने के बाद न्यायाधीश पंकज नकवी और विवेक अग्रवाल ने इस अपील को सुनवाई के लिए स्वीकार करते हुए कहा "किसी ऐसे व्यक्ति की पसन्द का अपमान करना न केवल एक वयस्क व्यक्ति के पसन्द की आजादी के खिलाफ है, बल्कि यह अनेकता में एकता की अवधारणा के लिए भी एक खतरा है। किसी व्यक्ति के बालिग होने पर उसे अपना जीवन साथी चुनने का संवैधानिक अधिकार हासिल है, जिससे इनकार करना न केवल उसके मानवाधिकार को प्रभावित करता है, बल्कि उसके जीने और व्यक्तिगत आजादी को भी प्रभावित करता है जिसकी संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा गारण्टी की गयी है।"

पीठ ने आगे कहा-- "हम प्रियंका खरवार और सलामत को हिन्दू और मुसलमान के रूप में नहीं, बल्कि प्रौढ़ व्यक्ति के रूप में देखते हैं जो लगभग एक साल से अपनी मुक्त इच्छा और पसन्द से शान्तिपूर्वक और खुशी-खुशी जीवन गुजार रहे हैं।"

"अपने पसन्द के किसी व्यक्ति के साथ जीवन बिताने का अधिकार, चाहे उनका धर्म कोई भी हो, उनके जीवन और व्यक्तिगत आजादी में अन्तर्निहित है। निजी सम्बन्धों में दखलअन्दाजी दो व्यक्तियों की आजादी के अधिकार में घुसपैठ करना है...। यह संविधान के अनुच्छेद 21 में दिये गये पसन्द की आजादी का अधिकार और सम्मानजनक जीवन जीने का आधिकार जैसे मौलिक अधिकारों और व्यक्तिगत आजादी को रोकना है।"

"हम यह नहीं समझ पाये कि जब कानून दो समान लिंग वाले व्यक्तियों को भी एक साथ शान्तिपूर्वक रहने की इजाजत देता है तब किसी व्यक्ति या किसी परिवार को ही नहीं, बल्कि राज्य को भी दो बालिग लोगों के सम्बन्ध को लेकर एतराज क्यों होना चाहिए जो अपनी स्वतन्त्र इच्छा से एक साथ रह रहे हों।"

ऊपर की तीनों खबरों को एक साथ जोड़कर देखें तो यह स्पष्ट है कि 'लव जेहाद' के नाम पर धर्मान्तरण के खिलाफ कानून बनाने की कार्रवाई न सिर्फ संविधान के विरुद्ध है जैसा कि इलाहाबाद हाई कोर्ट के फैसले में साफ-साफ बताया गया है, बल्कि जमीनी हकीकत से भी इसका कोई लेना-देना नहीं है, जैसा कि एसआईटी की जाँच रिपोर्ट में सामने आया है। सरकार जिनको 'लव जेहाद' और संगठित गिरोह द्वारा धर्मान्तरण के मामले मान रही थी, उसका जाँच दल को कोई सबूत नहीं मिला। दरअसल सत्ता की सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संगठनों ने मुस्लिम समुदाय के प्रति नफरत फैलाने, हिन्दुओं का वोट हथियाने और समाज में कलह पैदा करने के लिए जितने हथकण्डे अपनाये हैं, उन्हीं में से एक है 'लव जेहाद'। अन्तरधार्मिक और अन्तर्जातीय विवाह के विरूद्ध लोगों को भड़काने और साम्प्रदायिक, जातीय विद्वेश पैदा करने का जो काम अब तक भीड़ के जरिये किया जाता रहा है, उसे ही उत्तर प्रदेश की योगी सरकार कानूनी जामा पहनाने जा रही है। सरकार का यह कदम पूरी तरह संविधान विरोधी, सामाजिक विघटनकारी और सत्ता-स्वार्थ से प्रेरित है।

अफगानिस्तान में तैनात और ऑस्ट्रेलियाई सैनिकों की आत्महत्या

ऑस्ट्रेलियाई सुरक्षा बल ने अफगानिस्तान में चार साल की कार्रवाई के बारे में अपनी बेहद संशोधित और काट-छाँट कर तैयार की गयी एक रिपोर्ट जारी की है जिसमें बताया गया है कि ऑस्ट्रेलियाई सैनिकों ने अफगानिस्तान के 39 कैदियों, किसानों, और नागरिकों की हत्या की। यह भी सुनने को मिला कि ऑस्ट्रेलियाई रक्षा मंत्री लिण्डा रेनॉल्ड्स इस रिपोर्ट के सदमें में बीमार पड़ गयीं। इस सम्बन्ध में युद्ध अपराध की वारदात के बारे में चल रही जाँच के दौरान ही वहाँ तैनात 9 ऑस्ट्रेलियाई सैनिकों ने आत्महत्या की। ऑस्ट्रेलियाई सेना ने सफाई दी कि इसका अफगानिस्तान में की गयी हत्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ पुराने सैनिकों ने इसकी वजह युद्ध क्षेत्रों में मानसिक तनाव और खास तौर पर युद्ध अपराध की जाँच के दौरान मीडिया में आने वाली रिपोर्ट है। जबकि सच्चाई यह है कि ऐसी घटनाओं को दबाने का साम्राज्यवादी देशों द्वारा भरपूर प्रयास किया जाता है और बमुश्किल कभी युद्ध अपराध की कोई रिपोर्ट सामने आती है।

शान्ति सैनिक के नाम पर अफगानिस्तान, इराक और सीरिया जैसे देशों में भेजे जाने वाले नाटो संधि के देशों के सैनिकों द्वारा वहाँ निहत्थे और निर्दोश नागरिकों की हत्या रोजमर्रे की घटनाएँ हैं। हालाँकि युद्ध अपराध या कत्लोगारत में लिप्त इन सैनिकों की अपनी जिन्दगी भी तबाह होती है। उनकी शादी टूटना, पारिवारिक कलह, नशाखोरी और आत्महत्या या फिर झड़प के दौरान मौत ही उनकी जिन्दगी का हासिल है। वे या तो मरते हैं या मारते हैं। यही उनका पेशा है। मूलनिवासियों का खात्मा करने वाले अमरीकी-ऑस्ट्रेलियाई शासकों का इतिहास और वैभव युद्ध अपराध पर ही टिका है। अपने देश के पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ाने के लिए किसी न किसी बहाने दुनिया के तमाम देशों पर युद्ध थोपने वाले साम्राज्यवादी देशों के शासक बुश, ब्लेयर, मोरिसन, मैकरोन, ओबामा अपने देश के सैनिकों को तोप का चारा बनाकर दुनियाभर में भेजते हैं। ये शासक सत्ता में रहते हुए और सत्ता से बाहर हो जाने के बावजूद विलासिता पूर्ण जीवन जीते हैं, ये कभी आत्महत्या नहीं करते। इन असली युद्ध अपराधियों पर कोई मुकदमा नहीं चलता, कभी सजा नहीं होती।

जब तक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक युद्ध होते रहेंगे। दो विश्व युद्ध के दौरान लाखों लोगों की मौत और तबाही का जिम्मेदार यही लुटेरी साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद भी ऐसा कोई दिन नहीं गुजरा जब धरती के किसी न किसी कोने में युद्ध और युद्ध अपराध की घटना नहीं हुई हो।

पेज 30 का शेष.....

इसी तरह मुसलमानों, दलितों, ईसाइयों आदि के खिलाफ नफरत और सरकार के प्रति समर्थन बढ़ाने का काम तो आरएसएस की विचारधारा से जुड़े लोग व्हाट्सएप्प, फेसबुक, इंस्ताग्राम, अखबार और टीवी न्यूज चैनल आदि के माध्यम से पहले ही करते रहे हैं तो सवाल यह उठता है कि ये दूरदर्शन के इस्तेमाल में नया क्या है? तो इसका उत्तर है कि बाकी सब अभी तक गैर-सरकारी प्लेटफॉर्म हैं पर दूरदर्शन सरकारी है और आरएसएस का उस पर कब्जा सरकार पर उसका दबदबा दिखाता है। ऐसा ही हिटलर के मंत्री गोएबल्स ने जर्मनी में रेडियो का इस्तेमाल करके किया था। हमारे देश में भी हिटलरी शासन कायम करने की कोशिश चल रही है। इसी प्रयास में सभी तरह के मीडिया पर संघ अपना वर्चस्व चाहता है।

संस्कार भारती, सेवा भारती... प्रसार भारती

आज अधिकांश लोगों का कहना है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) हमारे देश और समाज की जमीन पर लगातार बढ़ने और फैलने वाला एक बेहद जहरीला पेड़ है। क्या यह सच है? आज संघ के लोग सरदार वल्लभ भाई पटेल की मूर्ति बनाकर अपना देश प्रेम का दिखावा कर रहे हैं, जबकि सरदार पटेल ने गृहमंत्री रहते हुए इस संगठन पर प्रतिबन्ध लगाकर इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया था। आरएसएस की जड़ें हमारे समाज में जितनी गहराई में उतरती गयीं उसकी जहरीली टहनियाँ भी उतनी ही फैलती गयीं। इनमें से एक है-- गीत-संगीत या कला के प्रसार के नाम पर 1981 में बनीं संस्कार भारती। दूसरी है-- 1989 में बनीं सेवा भारती जो गरीब आदिवासियों और झुग्गियों में रहनेवाले गरीब बच्चों को शिक्षा देने या कौशल विकास (कम्प्यूटर, मोबाईल रिपेयरिंग जैसे कोर्स कराने) के नाम पर बच्चों में जाति-धर्म का नफरत भरती है।

1991 में आरएसएस ने एक और संस्था विज्ञान भारती बनायी थी, जो गोबर खाकर तन्दरुस्त रहने या नाली से गैस निकालकर पकौड़े तलने जैसे छद्मविज्ञान परोसकर और विज्ञान के सही नियमों को झुठलाकर देश के आम लोगो को भटकाती है। विज्ञान भारती इतनी खतरनाक है और इसका सरकार में इतना बोलबाला है कि देश के आयुष मंत्रालय ने इसके दबाव में आकर हाल ही में अनुभवहीन आयुर्वेदिक डॉक्टरों को ऑपरेशन की इजाजत दे दी जिसका देशभर में प्रबल विरोध हुआ।

आरएसएस से जुड़ी ये संस्थाएँ सरकारी नहीं हैं और आरएसएस की तरह ही गैर-पंजीकृत और गैर-सरकारी संगठन हैं, हालाँकि मौजूदा सरकार इन संस्थाओं के एजेण्डे को बढ़-चढ़कर लागू करती है क्योंकि प्रधानमंत्री मोदी की ट्रेनिंग आरएसएस की शाखा में हुई है, न कि किसी वैज्ञानिक अकेडमी में। लेकिन एक सरकारी संस्था है-- प्रसार भारत। 1997 से प्रसार भारती अपना काम लगातार कर रही है। प्रसार भारती के दूरदर्शन चैनल पर 2014 से आरएसएस के मुखिया मोहन भागवत के करीब 40 सम्बोधन प्रसारित किये जा चुके हैं। ये बेहद चालाकी भरे काम हैं। टीवी के जरिये हिन्दू आबादी तक पहुँचने के लिए विजयादशमी त्योहार चुना गया। नागपुर में आरएसएस के मुख्यालय में इस अवसर पर शस्त्रपूजा आयोजित की जाती है और आह्वान किया जाता है कि अगर आप हिन्दू हैं तो अपने साथ शस्त्र (हथियार) रखिये। दरअसल ऐसा करके ये मुस्लिम आबादी के खिलाफ नफरत भड़काते हैं और साम्प्रदायिक दंगे का माहौल बनाते हैं।

जनता के टैक्स से चलने वाले सरकारी चैनल पर एक गैर-सरकारी संगठन के मुखिया मोहन भागवत के 40 से ज्यादा सम्बोधन चलाये जाने का मतलब है जनता के पैसों से ही जनता को बेवकूफ बनाने का काम जारी रखना, ताकि उन्हें हिन्दू-मुस्लिम, लव-जिहाद, गौ-रक्षा जैसे मामलों में भटकाकर बैंक घोटाला, गिरती जीडीपी, बढ़ते बलात्कार, बेरोजगारी, भुखमरी या महँगाई पर आवाज उठाने से रोका जा सके और अडानी-अम्बानी को रेल, पेट्रोल, एयरपोर्ट से लेकर खेत तक बेचे जा सके।

मोहन भागवत अपने सम्बोधनों में सीएए-एनआरसी और हर सरकारी कानून की तारीफ करते हैं। बड़ी ही मजेदार बात है कि सीएए-एनआरसी में सरकार लोगों को अपने-अपने कागज दिखाकर ये साबित करने को कहेगी कि वे हिन्दुस्तानी हैं या नहीं, जबकि आरएसएस को बने 95 साल हो चुके हैं, पर खुद उसी के पास कोई कागज नहीं है और वह सरकार द्वारा पंजीकृत या रजिस्टर्ड नहीं है। इसके अलावा वे उन रोहिंग्या शरणार्थियों को देश के लिए खतरा बताकर जिनमें बेहद बूढ़े लोग और गोद में खेलने वाले मासूम बच्चे भी हैं, देश की 'शरणागत की रक्षा' की परम्परा को भी चोट पहुँचा रहे हैं। यह भी हैरान करने वाली बात है कि गौ-रक्षा के नाम पर गुण्डागर्दी करने वाले जिन लोगों ने अखलाक, रकबर या पहलू खान जैसे बेगुनाहों की केवल शक के कारण कानून अपने हाथों में लेकर हत्या कर दी, उन्हीं गौ-रक्षकों के खिलाफ बोलने के बजाय मोहन भागवत उल्टा उन्हें ही हिंसा का शिकार बता रहे हैं। गौ-रक्षा के नाम पर गुण्डागर्दी करनेवाले ये हिन्दू गौ-पालकों पर गौ-हत्या का आरोप लगाकर जान से मारने की धमकी देते हैं और गाय लाते ले जाते वक्त पैसे वसूलते हैं।

संघ प्रमुख भागवत अपने हिन्दुत्व के विचारों को दूरदर्शन से प्रसारित करते रहते हैं, पर दलितों या स्त्रियों के सैकड़ों सालों से हो रहे उत्पीड़न पर चुप रहते हैं या दूसरे शब्दों में उनके लिए बीता हुआ समय एक बुलन्द ईमारत में तभी बदल सकता है जब उसकी नींव में दलितों और स्त्रियों आदि के उत्पीड़न का ईंट और गारा हो। ऊना के दलितों की पिटाई से लेकर हाल की हाथरस की घटना तक सरकार, संघ और उससे जुड़े संगठनों का रवैया तो कम से कम यही दिखाता है। दूरदर्शन पर प्रसारित उनके सम्बोधनों में भागवत जी कभी महँगाई, बढ़ती बेरोजगारी, सरकारी कम्पनियों के घाटे में चलने का बहाना बनाकर उन्हें बेहद सस्ते दामों पर निजी कम्पनियों को बेचने, सरकारी कर्मचारियों की छँटनी, घोटालों के कारण सरकारी बैंकों के डूबने या जीडीपी और अर्थव्यवस्था के तहस-नहस होने पर सरकार के खिलाफ कुछ नहीं बोलते।

शेष पेज 29 पर...

भारत ने पीओके पर किया हमला : एक और फर्जी खबर

बीते 19 नवम्बर को शाम 7 बजे, गोदी मीडिया ने एक खबर बड़े शोर-शराबे से ब्रेकिंग न्यूज बनाकर प्रसारित करना शुरू किया। यह खबर थी-- भारतीय सेना की पाक ओकुपायेड कश्मीर (पीओके) में हवाई हमले (एयर स्ट्राइक) की।

इस खबर का स्रोत पीटीआई का 13 नवम्बर को एलओसी पर हुए युद्ध विराम के उल्लंघन के ऊपर एक विश्लेषण था। इस लेख को एंकरों ने अपने मन मुताबिक एयर स्ट्राइक बताकर चैनलों पर चला दिया।

सबसे पहले पीटीआई समाचार एजेंसी का हवाला देकर पत्रकार प्रशान्त कुमार का एक ट्वीट आया जिसे स्रोत मानकर चैनलों ने आपाधापी में ये खबर प्रसारित करना शुरू किया। कुछ ही मिनटों बाद एनी समाचार एजेंसी ने भारतीय सेना के डायरेक्टर जनरल परमजीत सिंह के हवाले से इस खबर को गलत बताया। जनरल परमजीत ने बताया कि 19 नवम्बर को सीमा पर कोई फायरिंग या एयर स्ट्राइक नहीं हुई है। इसके बाद अधिकतर चैनलों ने इस खबर को हटा लिया लेकिन इस छोटे से समय के दौरान इन चैनलों ने भारत-पाक युद्ध जैसा माहौल खड़ा कर दिया।

लगभग सभी बड़े और प्रतिष्ठित न्यूज चैनलों ने एक संवेदनशील मसले को ताजा एयर स्ट्राइक के रूप में पेश किया। साथ ही उनसे जुड़े एंकरों ने भी अपने ट्विटर हैण्डल के जरिये बेहद गैरजिम्मेदारी से एक फर्जी खबर फैला दी। ऐसा करने में आज तक, इण्डिया टुडे, टाइम्स नाउ, एबीपी न्यूज, इण्डिया न्यूज, रिपब्लिक भारत, और जी न्यूज आदि प्रमुख हैं। ये सभी चैनल गोदी मीडिया के नाम से बदनाम भी हैं। एबीपी न्यूज की एंकर रुबिका लियाकत ने तो बेशर्मी की सारी हदें पार कर दी, हैशटैग "अबकी बार पीओके पार" के साथ, "बारूद से होगा सबका स्वागत" ट्वीट किया। इसके बाद जैसे फर्जी राष्ट्रवादियों में भी बढ़-चढ़कर ट्वीट करने की जैसे होड़ लग गयी। इनके साथ ही तथाकथित देशभक्त पार्टी बीजेपी के कई बड़े नेताओं ने भी ऐसे ही भड़काऊ ट्वीट किये।

ऐसे संवेदनशील व गम्भीर मुद्दों पर फर्जी खबर चलाने से चैनलों के सम्पादकों की समझदारी पर भी सवाल खड़ा होता है। रिपोर्टिंग के कुछ बुनियादी सिद्धान्तों में से एक है कि इस तरह की बड़ी घटना को डबल चेक करना, कम से कम दो स्रोतों से इसकी पुष्टि कर लेना। इसका सबसे आसान तरीका था सेना के प्रवक्ता से, रक्षा मंत्रालय के प्रवक्ता से या फिर विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता से इसकी पुष्टि कर ली जाती। लेकिन इतने जरूरी तथ्य को नजरन्दाज कर चैनलों ने ये फर्जी खबर चलायी। ऐसा नहीं है कि इन चैनलों ने पहली दफा कोई फर्जी खबर चलायी हो। ठीक ऐसा ही नोटबन्दी के समय हुआ था, जब बहुत से चैनलों ने 2000 के नोट में चिप होने की खबर चलायी थी। ये चैनल युद्धोन्माद और पाकिस्तान के प्रति नफरत फैलाने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देते।

केबल टीवी नेटवर्क एक्ट 1995 केन्द्र सरकार को, 'सार्वजानिक हित' में केबल टीवी नेटवर्क बन्द करने या किसी कार्यक्रम को प्रसारित होने से रोकने का अधिकार देता है, अगर कोई कार्यक्रम देश की अखण्डता, सुरक्षा, दूसरे देश के साथ दोस्ताना सम्बन्ध, पब्लिक सुव्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता पर बुरा असर डालता हो। कानून के तहत बताये गये 'प्रोग्राम कोड' के उल्लंघन पर भी सरकार ये कदम उठा सकती है-- 'प्रोग्राम कोड' में धर्म या किसी समुदाय के खिलाफ भावनाएँ भड़काना, झूठी जानकारी या अफवाह फैलाना शामिल है। कानून के उलंघन पर अधिकतम 5 साल की सजा और 2000 रुपया जुर्माने का प्रावधान है। सवाल यह है कि कानून के उल्लंघन पर सजा का प्रावधान होते हुए भी क्या आज तक किसी गोदी मीडिया पर कोई कार्रवाई हुई? नहीं! इसका सीधा सा मतलब है-- इन पर सरकार और पूँजीपतियों का वरदहस्त है।

सच्ची मीडिया जनता की पक्षधर होती है, वह सत्ता की चापलूसी नहीं करती। वह सरकार से सवाल पूछने और सत्ता में बैठे लोगों को जवाबदेह बनाने का काम करती है, न कि सरकार के पक्ष में राय बनाने या जनमत गढ़ने का।

-- विजय राही

'किसानों की पुकार' कविता का एक अंश

चालाकी में धौंस-धाँस में
दलालों की फोड़-फाँस में
फुसलाने में बहलाने में
डराने में या धमकाने में
लुट्टस-पिट्टस की हलचल में
धन्ना सेठ के छल, बल, कल में
चतुर किसान नहीं आयेगा
वो अपना हिस्सा अपना हक
लेके रहेगा, लेके रहेगा
जीके रहेगा, मरके रहेगा
लेकिन अब कुछ करके रहेगा

-- फिराक गोरखपुरी

उनके प्रभु और स्वामी

राजनीति विज्ञान के साहित्य में एक परिचित शब्द है-- लोकतांत्रिक बर्बरता। लोकतांत्रिक बर्बरता अक्सर एक न्यायिक बर्बरता द्वारा कायम होती है। "बर्बर" शब्द के कई रूप हैं। अदालती फैसले लेने में मनमानी इसका पहला रूप है। कानून को लागू करना न्यायाधीशों की मनमानी पर इतना निर्भर हो जाता है कि कानून या संवैधानिक नियमों का कोई मतलब नहीं रह जाता है। कानून दमन का एक साधन बन जाता है या, कम से कम, यह दमन को बढ़ाता है और उसे शह देता है।

आमतौर पर इसका मतलब होता है नागरिक स्वतंत्रता और असन्तुष्टों के लिए कमजोर संरक्षण और राजसत्ता के प्रति, खासकर संवैधानिक मामलों में बेहद सम्मान। अदालत भी राजद्रोह की अपनी परिभाषा को लेकर ज्यादा ही सचेत होने लगती है-- एक डरे हुए सम्राट की तरह, अदालत की भी गम्भीरता से आलोचना या मजाक नहीं किया जा सकता। इसकी महिमा इसकी विश्वसनीयता से नहीं बल्कि अवमानना की शक्ति से बची है। और आखिरकार, यहाँ बहुत गहरे अर्थों में बर्बरता है। यह तब होता है जब राज्य अपने ही नागरिकों के एक हिस्से के साथ जनता के दुश्मन के तौर पर व्यवहार करता है। राजनीति का उद्देश्य अब सभी के लिए समान न्याय नहीं है-- इसने राजनीति को उत्पीड़ितों और उत्पीड़कों के खेल में बदल दिया है और यह तय किया है कि आपका पक्ष विजेता बनकर आये।

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय कभी भी सर्व गुण सम्पन्न नहीं था। इसके भी अपने स्याह दौर रहे हैं। लेकिन जिन मायनों में ऊपर चर्चा की गयी है वह इसके न्यायिक बर्बरता में फिसल जाने की तरफ इशारा कर रहा है। यह परिघटना किसी एक न्यायाधीश या किसी एक मामले की बात नहीं रह गयी है। यह अब एक व्यवस्थित परिघटना बन गयी है जिसकी संस्थागत जड़ें बहुत गहरी हैं। यह एक वैश्विक प्रवृत्ति का हिस्सा है, तुर्की, पोलैण्ड और हंगरी के घटनाक्रमों का एक हिस्सा है, जहाँ न्यायपालिका इस तरह की लोकतांत्रिक बर्बरता को मदद पहुँचाती है। यह तय है कि सभी न्यायाधीश इसके आगे नहीं झुके हैं, व्यवस्था के भीतर अभी भी प्रतिरोध है। संस्थान की खातिर अदब के झीने से नकाब को बचाये रखने के लिए एक काबिल अभियोगी को सामयिक राहत देते हुए स्वतंत्रता के नाम पर सिद्धान्तों की भव्य उद्घोषणा के उदाहरण भी पेश होंगे, जबकि इसकी रोजमर्रे की हालत सड़ान्ध भरी ही है।

तो न्यायिक बर्बरता के लक्षण क्या हैं? अदालत ने ऐसे मामलों की समयबद्ध सुनवाई करने से इनकार कर दिया है जो लोकतंत्र की संस्थागत अखण्डता के लिए बुनियादी होते हैं, उदाहरण के लिए, चुनावी बॉण्ड का मामला। यह कोई रहस्य नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय और इसी तरह कई उच्च न्यायालयों द्वारा जमानत देने या अस्वीकार करने के नियम मनमानी की नयी ऊँचाइयों तक पहुँच गये हैं। लेकिन यहाँ एक बिन्दु को रेखांकित करना महत्त्वपूर्ण है।

कोई भी विचाराधीन अभियोगी जानता है कि भारतीय न्याय व्यवस्था में न्याय मिल पाना किस्मत का खेल भी है, लेकिन हमें मौजूदा क्षण की खासियत को पहचानने में गलती नहीं करनी चाहिए। सुधा भारद्वाज जैसे देशभक्त या आनन्द तेलतुम्बड़े जैसे विचारकों को जमानत नहीं दी जा रही है। उमर खालिद को अपनी बैरक से बाहर कदम रखने की मामूली राहत दी गयी लेकिन सीएए विरोधी कितने ही युवा छात्र प्रदर्शनकारियों का भविष्य अधर में है। एक 80 वर्षीय सामाजिक कार्यकर्ता, जो पार्किंसन से पीड़ित है, उसे एक भूसे (यहाँ स्ट्रॉ का अर्थ पीने वाला पाइप है लेकिन तुम भूसा ही लिखो) से वंचित कर दिया गया था और अदालत अपने समय पर उसकी सुनवाई करेगी। इस तरह की सरासर क्रूरता की इससे अधिक साफ अभिव्यक्ति के बारे में कोई सोच भी नहीं सकता। बन्दी प्रत्यक्षीकरण निवारण के बिना सैकड़ों कश्मीरी हिरासत में हैं।

ये सभी मामले सामान्य संस्थागत अक्षमताओं के कारण न्याय में हुई चूक के कोई अलग-थलग उदाहरण नहीं हैं। ये सीधे तौर पर एक ऐसी राजनीति का एक उत्पाद है जो विरोध, असन्तोष और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को राज्य के सम्भावित दुश्मन के नजरिए से देखती है। वे कानून के सामने समान नागरिक नहीं हैं। कई मामलों में तो बेवजह ही उनके साथ विद्रोही समूहों जैसा बर्ताव किया जाता है, लोकतांत्रिक बर्बरता इसी गढ़ी हुई परिभाषा को असहमति पर थोप सकती है। इस गढ़ने में अब सीधे न्यायिक शक्ति मदद पहुँचा रही है। और, यह कहना ही होगा, इसी परिघटना को किसी अलग राजनीतिक व्यवस्था के लिए राज्यों के स्तर पर दोहराया जा सकता है।

नागरिक स्वतंत्रता के मामलों में जिस तरह से मनमानी शुरू हुई है, वह धीरे-धीरे राज्य की वैचारिक बुनियाद में फैल जाएगी। जैसा कि राज्य दर राज्य अब "लव जिहाद" पर कानून बनाने पर विचार कर रहे हैं। "लव जिहाद" साम्प्रदायिक रूप से कपटी और

कुटिल रूप से गढ़ा गया है और देखिए कि स्वतंत्रता पर इस नये हमले को वैध बनाये जाने को न्यायपालिका किस तरह अमल में लाती है। हम उस चरण से आगे निकल गये हैं जहाँ उच्चतम न्यायालय की अक्षमताओं को संस्थागत सुधार की अतिउत्साही नीतिगत भाषा में उकेरा जा सकता था। जो हो रहा है, वह लोकतांत्रिक बर्बरता की भाषा को न्यायिक रूप देने जैसा है।

सुप्रीम कोर्ट ने अर्नब गोस्वामी को जमानत देकर सही किया। उसने यूपी सरकार को पत्रकारों की गिरफ्तारी को लेकर एक नोटिस जारी किया है। लेकिन न्यायमूर्ति एसए बोबड़े ने हस्तक्षेप किया कि सर्वोच्च न्यायालय अनुच्छेद 32 के उपयोग को हतोत्साहित करने की कोशिश कर रही है। ऐसा कर उन्होंने अनजाने ही एक राज से पर्दा उठा दिया। अनुच्छेद 32 भारतीय संविधान की उन महिमाओं में से एक है जो मौलिक अधिकारों की रक्षा करती है। इसे केवल आपातकालीन स्थिति में ही निलंबित किया जा सकता है। कुछ मायनों में इस अनुच्छेद के उपयोग को हतोत्साहित करना हमारे समय का एक आदर्श रूपक है-- हम औपचारिक रूप से आपातकाल की स्थिति घोषित नहीं करना चाहते हैं, लेकिन मान कर चलिये कि जब और जहाँ जरूरत पड़े, आपातकाल ही है। अनुच्छेद 32 के उपयोग को खारिज करने के बजाय हतोत्साहित किया जा रहा है।

इसके खिलाफ लड़ाई आसान नहीं होने वाली है। जहाँ हर मुद्दे पर अब सार्वजनिक उद्देश्यों से नहीं बल्कि पक्षपातपूर्ण लड़ाई के चश्मे के माध्यम से सोचा जाता है, लोकतांत्रिक बर्बरता अब न्यायपालिका के मूल्यांकन को संक्रमित कर चुकी है जो कुछ हद तक इसलिए भी है कि अदालत खुद को इस लड़ाई से ऊपर दिखाने के काबिल नहीं है। सार्वजनिक रूप में ज्यादातर "मेरे पसन्दीदा न्याय पीड़ित बनाम तुम्हारे पसन्दीदा" की ही चर्चा होती है, जो कानून का राज कायम होने की आम सहमति तक पहुँचने को मुश्किल बना देती है। विडम्बना यह है कि कानूनी एक्टिविज्म की परम्परा, जो न्यायपालिका को हर चीज का मध्यस्थ बनाने पर भारी जोर देती है, न्यायिक जहर को वैध बनाती है। यह चलन अभी भी जारी है।

मिसाल के तौर पर केन्द्रीय विस्टा परियोजना को लेकर हम सबके अपने-अपने विचार हो सकते हैं, लेकिन यह ऐसा मुद्दा कतई नहीं है जिसे अदालतों को भाव देना चाहिए। मामूली नीतिगत मसलों पर अदालत से हमारे हक में मिली जीतों को देखते हुए हम कुछ मायनों में संवैधानिक सिद्धान्तों को लेकर इसके बुनियादी उल्लंघन को वैधता प्रदान करते हैं। तीसरा, बार काउंसिल की एक संस्कृति है। दुष्यन्त दवे, गौतम भाटिया, श्रीराम पाँचू जैसी कुछ आवाजें हैं जो सड़ान्ध को सड़ान्ध कहती हैं लेकिन अभी भी एक गम्भीर पेशेवर प्रतिरोध नहीं बन पायी हैं। वरिष्ठ वकीलों और न्यायाधीशों की मनोग्रंथि अभी भी अदालतों के महिमामण्डन करने की दिखती है और न्यायिक बर्बरता के साथ सहजता से खड़ी है। यह ग्रंथि बहुत बढ़ गयी है। यह थोड़ा बदरंग, बड़ी-चढ़ी बात लग सकती है, लेकिन जब आप एक बीमार न्यायपालिका (परम्परागत रूप से इसे "सत्तावादी" और "तीसरा बल" के रूप में जाना जाता है जो गणतंत्र के खिलाफ होता है।) के रेंगते हुए रंग देखते हैं तो आम नागरिकों के लिए रंग कोई विकल्प नहीं रह जाता है।

-- प्रताप भानू मेहता

(साभार, इण्डियन एक्सप्रेस 18 नवम्बर, 2020 में प्रकाशित। लेखक, द इण्डियन एक्सप्रेस में सहायक सम्पादक हैं।)

अनुवाद-- पारिजात

जब सौरव गांगुली को हार्ट अटैक आया

पिछले दिनों भूतपूर्व क्रिकेट खिलाड़ी सौरव गांगुली को हार्ट अटैक आ गया, जिसके बाद उन्हें अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। हालाँकि उनकी तबियत सुधर गयी और चिन्ता की कोई बात नहीं है, लेकिन इसी बीच अडानी की फॉर्चून कम्पनी पर जो उनका विज्ञापन था, उसे हटा लिया गया। मालूम हो कि सौरव गांगुली फॉर्चून कम्पनी के ब्राण्ड अम्बेसडर हैं और विज्ञापन के जरिये वे फॉर्चून तेल में कोलेस्ट्रॉल कम होने के फायदे बताते थे, लेकिन उनके हार्ट अटैक ने विज्ञापन के साथ ही कम्पनी के दावे की हवा निकाल दी।

उत्तराखण्ड : थानो जंगल कटान, विकास के नाम पर विनाश

उत्तराखण्ड का नाम सुनते ही हमारे दिमाग में सबसे पहले जो तस्वीर बनती है वह है हरे-भरे जंगल, पहाड़, जंगली जानवर, बर्फ, ठंडा मौसम और हर वह चीज जो रूह को सुकून दे सके।

जहाँ एक तरफ हमारी सरकार हरा-भरा राज्य होने की डींगें हाँकती है, वहीं दूसरी ओर राजधानी से 20 किलोमीटर दूर, उत्तराखंड सरकार ने 243 एकड़ वन भूमि को एयरपोर्ट अथॉरिटी ऑफ इंडिया (एएआई) को हस्तान्तरित करने के लिए राष्ट्रीय वन्य जीव बोर्ड की मंजूरी लेने का फैसला किया है। यदि स्वीकृति दे दी गयी, तो देहरादून के जौलीग्राण्ट हवाई अड्डे के विस्तार के लिए थानो रेंज में 10,000 से अधिक पेड़ों को काट दिया जायेगा।

थानो के जंगल में कुल 9,745 पेड़ हैं जिसमें खैर (3,405), शीशम (2,135), सागौन (185) और गुलमोहर (120) जैसी कीमती प्रजातियाँ शामिल हैं। साथ ही पेड़ों की 25 अन्य प्रजातियाँ भी हैं जिन्हें काटने का प्रस्ताव है। इस क्षेत्र में पक्षियों की 104 प्रजातियाँ पायी जाती हैं। राजाजी राष्ट्रीय पार्क से महज 8 किलोमीटर की दूरी पर यह जंगल हाथियों की आवाजाही का भी रास्ता है। इसके अलावा प्रदेश में विकास परियोजना की राह से वाइल्ड लाइफ का अड़ंगा दूर करने के लिए सरकार शिवालिक सहित प्रदेश में 14 एलिफैण्ट रिजर्व खत्म करने जा रही है। तैयार प्रस्ताव के अनुसार प्रदेश में दून से लेकर शारदा नदी तक करीब 5200 वर्ग किलोमीटर का एरिया एलिफेंट रिजर्व के नाम पर नोटिफाई है। शिवालिक रिजर्व के कारण जौलीग्राण्ट एयरपोर्ट के विस्तार में दिक्कत आ रही है। इस कारण सरकार शिवालिक समेत अन्य एलिफेंट रिजर्व को डिनोटिफाई करने जा रही है।

इन पेड़ों को काटे जाने के पक्ष में सरकार तर्क देती है कि भविष्य में हवाई यातायात की बढ़ती माँग को ध्यान में रखते हुए हवाई अड्डे का विस्तार होना जरूरी है। अब सवाल यह है कि इन हवाई सेवाओं का लुत्फ उठा कौन रहा है? राज्य में नौकरी के नाम पर सरकारी नौकरियाँ या छोटा-मोटा काम करने वाले लोगों की तादाद ज्यादा है। यह वर्ग हवाई जहाज में जाना तो दूर, कभी हवाई अड्डे तक भी नहीं जाता। तो क्या हमारी विरासत में मिले पेड़ों का खात्मा सिर्फ मुट्ठी भर नेताओं और अमीरों की अय्याशियों के लिए किया जा रहा है?

उत्तराखण्ड के प्रमुख वन्यजीव वार्डन जबर सिंह सुहाग ने द वायर साइंस से बात करते हुए पुष्टि की कि बोर्ड ने ग्यारहवें रिजर्व को निरूपित करने के प्रस्ताव को मंजूरी दी थी। उन्होंने पहले द वायर साइंस को बताया था कि एक हाथी रिजर्व को राज्य में "विकास" में बाधा डालने की इजाजत नहीं दी जा सकती है।

"आज यह हाथी रिजर्व के नाम पर है, कल कोई तितली रिजर्व आ जायेगा। इस तरह से उत्तराखण्ड में कोई काम नहीं हो सकता। हाथी कहीं से भी गुजर सकता है, इसका मतलब यह नहीं है कि इसे कोई कोरिडोर घोषित किया जायेगा।"

आज जलवायु परिवर्तन हमारे सामने बहुत बड़ी समस्या है। इतनी बड़ी संख्या में पेड़ों को काटकर पर्यावरण का भारी नुकसान होगा जिसकी भरपाई करना सम्भव नहीं है। एक समय देहरादून के ऊपरी हिस्सों में भी बर्फ गिरती थी। किसी समय घरों में पंखे नहीं होते थे आज वहाँ भी एयर कंडिशनर दिखाई देते हैं। पहले ही विकास के नाम पर ऑल वेदर रोड के चलते जंगलों को भारी नुकसान उठाना पड़ रहा है, यदि इस योजना को मंजूरी मिलती है तो वन्य जीव प्रभावित होने के साथ अमूल्य वृक्ष प्रजातियों का नुकसान होगा। रिपोर्ट के अनुसार देहरादून की हवा में इतनी गन्दगी है कि कोई व्यक्ति सुबह से शाम तक घण्टाघर (देहरादून के केंद्र) में खड़ा रहे तो उसके अंदर 6 सिगरेट के बराबर धुआँ घुस जाएगा। जब पर्यावरण की चंद साँसे बची हो उस वक्त थानो के हजारों पेड़ों को काटना वेण्टिलेटर का बटन बन्द करने जैसा होगा। जिस जगह हवाई अड्डे का विस्तारीकरण होना है वह भूकम्पीय क्षेत्र-4 के अंतर्गत आता है, इससे छेड़छाड़ करना वैसे भी खतरे से खाली नहीं है। परियोजना के लिए भूजल के दोहन के चलते भविष्य में पानी की भारी कमी होगी।

हमारा राज्य और इसके जंगल हमारे पूर्वज की विरासत हैं। हम गौरा देवी, गोविंद सिंह रावत, चंडी प्रसाद भट्ट, शिवानंद नौटियाल, हयात सिंह जैसे लोगों के वंशज हैं, हमारे भविष्य को विकास की बलि चढ़ाने का हक हमारी सरकार को नहीं है। यह मिट्टी हमारी है, यह पानी हमारा है, ये जंगल हमारे हैं जिनको हमारे पूर्वजों ने संजोकर हमें सौंपा है, अब इनको बचाना हमारी जिम्मेदारी है।

क्या आप ऐसा विकास चाहेंगे जो जंगल के विनाश की कीमत पर चन्द लोगों की अय्याशी का इन्तजाम करता हो?

शायद नहीं। बिलकुल नहीं।

-- शालिनी

मानवाधिकार उल्लंघन

- शैलेन्द्र चौहान

इसी वर्ष 14 जनवरी को अमरीका की एक मानवाधिकार संस्था ह्यूमन राइट्स वॉच ने न्यूयॉर्क में अपनी 652 पन्नों की विश्व रिपोर्ट 2020 में, जो कि इसका 30वाँ संस्करण है, लगभग 100 देशों में मानवाधिकारों की स्थिति की समीक्षा की है। अपने परिचयात्मक आलेख में, कार्यकारी निदेशक केनेथ रोथ ने कहा है कि चीन की सरकार, जो सत्ता में बने रहने के लिए दमनात्मक नीतियों पर निर्भर रहती है, दशकों बाद वैश्विक मानवाधिकार पर सबसे तीखा हमला कर रही है। वह कहते हैं कि जहाँ बीजिंग की कार्रवाई दुनिया भर के निरंकुश लोकलुभावनवादी शासकों को शह दे रही है और उनका समर्थन हासिल कर रही है, वहीं चीन की सरकार अन्य सरकारों को चीन की आलोचना से रोकने के लिए अपनी आर्थिक ताकत का इस्तेमाल कर रही है। यह बेहद जरूरी है कि इस हमले का विरोध किया जाये, जो मानवाधिकारों पर कई दशकों में हुई प्रगति और हमारे भविष्य के लिए खतरा है।

भारत के सन्दर्भ में ह्यूमन राइट्स वॉच ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि अगस्त 2019 में जम्मू-कश्मीर में भारत सरकार की बड़े पैमाने पर कार्रवाई ने कश्मीरियों के समक्ष काफी दुश्वारियाँ खड़ी की हैं और उनके अधिकारों का उल्लघंन किया है। भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार ने राज्य का विशेष संवैधानिक दर्जा रद्द कर इसे दो अलग-अलग केन्द्र शासित प्रदेशों में बाँट दिया है।

जम्मू और कश्मीर में अपनी कार्रवाई से पहले, सरकार ने राज्य में अतिरिक्त सैनिकों की तैनाती की। इण्टरनेट और फोन बन्द कर दिये और मनमाने ढंग से हजारों कश्मीरियों को हिरासत में ले लिया जिनमें राजनीतिक नेता, कार्यकर्ता, पत्रकार, वकील और बच्चों सहित सम्भावित प्रदर्शनकारी शामिल थे। विरोध प्रदर्शनों को रोकने के लिए सैकड़ों लोगों को बिना किसी आरोप के हिरासत में लिया गया या घरों में नजरबन्द कर दिया गया। ह्यूमन राइट्स वॉच की दक्षिण एशिया निदेशक मीनाक्षी गांगुली ने कहा, "भारत सरकार ने कश्मीर को पूरी तरह प्रतिबंधित करने की कोशिश की है। वह वहाँ हुए नुकसान की पूरी तस्वीर छिपा रही है। अल्पसंख्यकों पर बढ़ते हमलों को रोकने के बजाय, उसने 2019 में आलोचकों की आवाज दबाने के प्रयासों को तेज कर दिया।"

कश्मीर में भारत सरकार की कार्रवाइयों से कश्मीरियों की रोजी-रोटी और शिक्षा-दीक्षा का भारी नुकसान हुआ है। अमरीकी कांग्रेस, यूरोपीय संसद और संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद सहित कई अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर सरकार की दमनात्मक कार्रवाइयों की आलोचना हुई। पूरे साल, संयुक्त राष्ट्र विशेषज्ञों ने भारत में गैर-न्यायिक हत्याओं, असम में लाखों लोगों की सम्भावित राज्यविहीनता, आदिवासी समुदायों और वनवासियों की सम्भावित बेदखली और कश्मीर में संचार प्रतिबन्धों सहित कई मुद्दों पर चिन्ता व्यक्त की।

भारत सरकार धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने में भी विफल रही। उसने शान्तिपूर्ण असहमति को दबाने के लिए राजद्रोह और उग्रवाद निरोधी कठोर कानूनों का इस्तेमाल किया और सरकार के कार्य और नीतियों की आलोचना करने वाले गैर-सरकारी संगठनों को बदनाम करने और उनकी आवाज दबाने के लिए विदेशी अनुदान विनिमयन और अन्य कानूनों का इस्तेमाल किया। धार्मिक अल्पसंख्यकों और अन्य कमजोर समुदायों के खिलाफ भीड़-हिंसा की घटनाओं, जिनका नेतृत्व अक्सर भाजपा समर्थकों द्वारा किया जाता है, को रोकने और उनकी जाँच करने के सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों को ठीक से लागू करने में सरकार विफल रही है। गोमांस के लिए गायों का व्यापार या हत्या की अफवाहों के बीच उग्रपंथी हिन्दू समूहों की हिंसा में 50 लोग मारे गये और 250 से अधिक घायल हुए हैं। मुसलमानों को पीटा गया और उन्हें हिन्दू नारे लगाने के लिए भी मजबूर किया गया है। पुलिस अपराधों की सही तरीके से जाँच करने में विफल रही है, उल्टे जाँच को बाधित किया है, प्रक्रियाओं की अनदेखी की है और गवाहों को परेशान करने तथा डराने के लिए आपराधिक मामले दर्ज किये हैं।

उत्तरपूर्वी राज्य असम में सरकार ने राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर प्रकाशित किया। इसका घोषित उद्देश्य है बांग्लादेश से नृजातीय बंगालियों के गैर कानूनी प्रवासन के मुद्दे पर बार-बार विरोध प्रदर्शनों और हिंसा से उत्पन्न स्थिति में भारतीय नागरिकों और वैध निवासियों की पहचान करना। लगभग बीस लाख लोग इस नागरिकता सूची से बाहर हैं, जिनमें अधिकतर मुस्लिम हैं। सूची से बाहर रह गये लोगों में कई तो ऐसे हैं जो वर्षों से भारत में रह रहे हैं या फिर अपनी पूरी जिन्दगी यहीं गुजारी है। ऐसे गम्भीर आरोप लगे हैं कि सत्यापन प्रक्रिया मनमानी और भेदभावपूर्ण थी। हालाँकि लोगों को अपील करने का अधिकार है, सरकार अपील के बाद नागरिकता से वंचित लोगों के लिए नजरबन्दी शिविर बनाने की योजना पर काम कर रही है। सरकार ने यह भी

शेष पेज 27 पर...

अम्बानी-अडानी का पर्दाफाश करने वाले पत्रकारों पर जानलेवा हमला

अगर किसी देश में पत्रकारों को डराया-धमकाया जाता है, सच को सामने लाने के कारण उन पर जानलेवा हमला होता है, तो यह कैसा लोकतंत्र है? दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र कहे जाने वाले देश में ऐसी ही दो घटनाएँ हाल ही में सामने आयी हैं। एक आईबीएन-24 के पत्रकार आकर्षण उप्पल पर जानलेवा हमला और दूसरा, गाजियाबाद के पत्रकार रविकुमार की बेदर्दी से पिटायी का मामला। दोनों ही पत्रकार किसान आन्दोलन का कवरेज कर रहे थे और संघर्ष के इस दौर में जनता के सम्मुख सच को उजागर करने का काम कर रहे थे। इन्होंने अपनी खबरों के माध्यम से किसान आन्दोलन में जनता का भारी समर्थन और कार्पोरेट घरानों के साथ सरकार के गठजोड़ को बेनकाब किया।

आकर्षण उप्पल ने अपनी रिपोर्ट में दिखाया था कि एक तरफ हरियाणा के पानीपत जिले में अडानी ग्रुप द्वारा किसानों से अनाज खरीदकर स्टोर करने के लिए सौ एकड़ जमीन पर बड़े-बड़े गौदामों, निजी रेल लाइन और अन्य निर्माण किये जा रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ लाखों किसान सरकार द्वारा थोपे जा रहे नये कृषि कानूनों का विरोध कर रहे हैं।

ऐसा भी नहीं कि अडानी ग्रुप द्वारा गोदामों का निर्माण सिर्फ हरियाणा और पंजाब में ही किया जा रहा है। फाइनेन्शियल एक्सप्रेस, मीडिया विजिल और अन्य समाचार माध्यमों की 2008 से 2017 की विभिन्न रिपोर्टों के अनुसार अडानी ग्रुप की एक संस्था अडानी एग्री लॉजिस्टिक लिमिटेड (एएएलएल) व एफसीआई के बीच वेयरहाउस (गोदाम) निर्माण का समझौता हुआ है। इस समझौते में प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशीप (पीपीपी) मॉडल के तहत 13 राज्यों में 100 लाख टन स्टोरेज क्षमता वाले वेयरहाउस/साइलो तैयार करने की योजना है। मार्च 2018 में छपी राजस्थान पत्रिका की एक रिपोर्ट के अनुसार अडानी ग्रुप का उत्तर प्रदेश सरकार के साथ समझौता हुआ है। इस समझौते के तहत सरकार अडानी ग्रुप यमुना प्राधिकरण क्षेत्र की 1400 एकड़ जमीन अडानी के हवाले करेगी, जिस पर अडानी ग्रुप 2500 करोड़ रुपये का निवेश करके फूड पार्क, वेयरहाउस और साईलो बनायेगा।

बात सिर्फ यहीं खत्म नहीं होती। सरकार का दूसरा चहेता कॉर्पोरेट घराना रिलायंस ग्रुप है। जिसने 2006 से अब तक 621 रिलायंस फ्रैश खुदरा दुकान खोले हैं जिनसे प्रतिदिन 200 मेट्रिक टन फल और 300 मेट्रिक टन सब्जियाँ बेची जाती हैं। इस ग्रुप के पूरे देश में 420 से ज्यादा शहरों में बिग बाजार चल रहे हैं और अब तक 1000 से ज्यादा अन्य स्टोरों का अधिग्रहण कर चुका है।

गजब यह है कि नये कृषि कानून बनने के पहले से ही कॉर्पोरेट घरानों ने कृषि उपज की खरीद, भण्डारण और उनकी बिक्री से अकूत मुनाफा कमाने की तैयारी शुरू कर दी थी। जाहिर है कि उनको सरकार के भावी कदमों की जानकारी पहले से ही थी।

सभी तथ्यों और आँकड़ों से यह साबित होता है कि पिछले कुछ वर्षों से भाजपा सरकार ने प्रत्येक क्षेत्र में निजी निवेश के लिए लाल कालीन बिछाने का काम किया है। सरकार देशी-विदेशी मुनाफाखोर पूँजीपतियों जैसे-- अडानी, अम्बानी, मोन्सेण्टो और कारगिल के हाथों देश की सार्वजनिक सम्पत्ति को कौड़ियों के दाम बेच रही है। सरकार नये कृषि कानून लाकर कॉर्पोरेट घरानों को मेहनतकश किसानों की खून-पसीने से पैदा की गयी दौलत पर दिन-दहाड़े डकैती डालने का परमिट दे रही है।

इन सब के इतर गोदी मीडिया लगातार प्रधानमंत्री की छवि को मसीहा के रूप में स्थापित करने में लगा है, क्योंकि वे जानते हैं कि जो नंगा नाच पर्दे के पीछे चल रहा है वह धीरे-धीरे जनता के सामने आता जा रहा है। नये कृषि कानून के चलते देश की कृषि व्यवस्था को मुनाफाखोर कम्पनियों के हवाले कर दिया गया है, जिसके चलते हमारे देश की खाद्य सुरक्षा खतरे में पड़ गयी है।

जनविरोधी तीन कृषि कानूनों के खिलाफ चल रहे किसान आन्दोलन ने मेहनत करने वालों और उनकी मेहनत को लूटने वाले लोगों के बीच के टकराव को सतह पर ला दिया है। अब स्पष्ट तौर पर एक तरफ लूटने वाले कॉर्पोरट घरानों के भाड़े के बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार, टीवी चैनल और स्वघोषित नेता हैं, जो लूट को बरकरार रखने के लिए हर सम्भव षडयंत्र और कार्रवाई करते हैं। दूसरी तरफ मेहनत करने वालों के बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार और जनता के नेता हैं, जो इस लूट को खत्म कर अपने लोगों के हक के लिए एक शानदार जुझारू मुहीम छेड़े हुए हैं। सरकार और कॉर्पोरेट घरानों का गठजोड़ योजनाबद्ध तरीके से मेहनतकश जनता के प्रतिनिधियों को फर्जी मुकदमों में जेल भेजते हैं, डराते-धमकाते हैं। जो इन दमनकारी तरीकों से नहीं डरते, उन पर सरकार और कॉर्पोरेट घराने जानलेवा हमले करवाते हैं। पत्रकारों पर होनेवाले हमलों की यही वजह है। लेकिन जैसे-जैसे दमन बढ़ रहा है, वैसे-वैसे लोगों का प्रतिरोध भी बढ़ रहा है।

-- आशीष कुमार

द सोशल डिलेमा : सोशल मीडिया के स्याह पहलू से रूबरू कराती फिल्म

फर्ज कीजिये कि आप कोई काम कर रहे हैं और उसे कोई काले शीशे के पीछे से देख रहा हो और आपको इसकी कोई भनक भी न हो, तो क्या होगा।

सूचना युग में आज हम अपने को बहुत खुशनसीब समझ सकते हैं कि हमारे पास स्मार्ट फोन है, उस पर एक क्लिक करते ही ढेरों सुविधाएँ उपलब्ध हैं। एक क्लिक करने पर रेस्टोरेण्ट के बढ़िया खाने का आर्डर देने, बस, ट्रेन, टैक्सी की बुकिंग करने, दुनिया भर की सूचना पाने, दुनिया के किसी भी पहाड़, नदी, समन्दर की फोटो देखने, प्रेमी या प्रेमिका की खोज करने और मनोरंजन से अपनी आँखें तर करने का काम कर सकते हैं। हमें इन सबकी क्या कीमत देनी पड़ती है? यह हम नहीं सोचते। जेफ ओर्लोवस्की द्वारा निर्देशित डॉक्युमेण्ट्री फिल्म 'द सोशल डाइलेमा' इसके बारे में दिखाती है।

सूचना के इतिहास को देखें तो पता चलता है कि हम मुनादी, रेडियो, टेलीविजन से होते हुए इण्टरनेट और स्मार्ट फोन तक पहुँच चुके हैं। इसने हमें एक ऐसे जाल में फँसा लिया है जो खुशी भी देता है और गम भी। स्मार्ट फोन में फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्सएप, इंस्टाग्राम, गूगल और इसी तरह के सैंकड़ों एप्लीकेशन्स होते हैं, जिन्हें सोशल मीडिया कहा जाता है क्योंकि यह लोगों को जोड़ने के लिए प्लेटफार्म उपलब्ध कराते हैं। इनकी खास बात यह है कि ये दुनिया की सबसे ज्यादा पैसा कमाने वाली कम्पनियाँ हैं। ज्यादातर एप्लीकेशन्स इण्टरनेट पर फ्री में उपलब्ध हैं। ये कम्पनियाँ इन्हें फ्री में उपलब्ध कराकर भी दुनिया की सबसे अमीर बन गयीं। आज तकनीक शासक वर्ग के हाथ में है, वे हर हालत में मुनाफा कमाना चाहते हैं। ये लूट ऐसे ही चलती रहे इसके लिए जनता को गुमराह किया जाता है।

'द सोशल डाइलेमा' फिल्म में बहुत सारे तकनीकी विशेषज्ञों के साक्षात्कार हैं, जो इन कम्पनियों में बड़े पदों पर काम कर चुके हैं। उन्हीं में से एक "ट्रिस्टन हैरिस" जो गूगल में बतौर "डिजाइन एथिसिस्ट" काम कर चुके हैं, बताते है कि इन सोशल मीडिया प्लेटफार्म के बिजनेस मॉडल की मुख्य बात होती है यूजर को स्क्रीन से बाँधे रखना। इसी के लिए वे नये-नये तरह के प्लेटफार्म बनाते हैं जैसे अगर आपने फेसबुक खोला और देखना शुरू किया तो कभी न खत्म होने वाली जानकारी आपकी आँखों के सामने आती रहेगी। वह चकाचौंध पैदा करती है और व्यक्ति उसी में खो जाता है जिसे तकनीकी विशेषज्ञ "पॉजिटिव इण्टरमिटेण्ट रिइनफोर्स्मेंट" बोलते हैं। इसके लिए विशेषज्ञों की एक टीम योजना बनाती है। योजना के लिए डाटा चुराने का काम ये कम्पनियाँ अपने यूजर की प्रोफाइल से करती हैं वह भी उनको बिना बताये। आप हर गतिविधि जैसे-- सोशल मीडिया से जुड़ने के बाद वह आपके दुख-सुख, दोस्त-दुश्मन, पसन्द-नापसन्द, प्यार-नफरत, सांस्कृतिक अभिरुचि-- गाने, फिल्में, खानपान आदि हर कार्रवाई की जासूसी करती हैं। आपकी इन्हीं सूचनाओं का इस्तेमाल करके वे आपके फोन पर विज्ञापन भेजते हैं और आपको ग्राहक बना लेते हैं। आपकी पसन्द-नापसन्द को बदल देते हैं। असल में ये कम्पनियाँ हमसे जुड़े डाटा को बेच कर मुनाफा कमाती हैं।

ट्रिस्टन हैरिस बताते हैं कि सोशल मीडिया प्लेटफार्म से आज 5 तरह का धंधा चल रहा है-- 1. डाटा माइनिंग (निगरानी करके बिना अनुमति के डाटा इकट्ठा करना), 2. एडिक्शन (इन प्लेटफार्म की आदत डालना), 3. झूठी खबरें प्रचारित करना (एक रिपोर्ट के अनुसार ट्विटर पर फैली झूटी खबर सच्ची खबर के मुकाबले 6 गुना तेजी से फैलती है।), 4. चुनाव में गडबड़ी करना, 5. प्रोपगेंडा फैलाना।

हमारे बीच गहराई से जड़ें जमा चुका सोशल मीडिया हमें मानसिक रूप से बीमार बनाता है। उन्हीं में से एक बीमारी का नाम है "स्नैपचैट डिसमॉर्फिया" जिसमें लोग अपनी फोटो को सुन्दर बनाने के लिए फिल्टर का इस्तेमाल करके चेहरे पर तरह-तरह के रंग पोत लेते हैं। वे चाहते हैं कि ज्यादा से ज्यादा लाइक मिले, कम लाइक मिलने पर निराश हो जाते हैं।

आखिर में यह फिल्म कुछ समाधान भी पेश करती है। जैसे अगर हो सके तो इन सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म को अपने फोन से हटा दें। या फिर इनका कम से कम इस्तेमाल करें।

-- सन्नी तोमर

लक्ष्मी विलास बैंक की बर्बादी

बीमार बैंकिंग व्यवस्था की अगली कड़ी

-- मोहित पुण्डिर

पीएमसी (पंजाब एण्ड महाराष्ट्र कोऑपरेटिव) और यश बैंक के बाद अब बर्बाद होने वाले बैंकों की सूची में लक्ष्मी विलास बैंक का नया नाम जुड़ गया है। 94 साल पुराना यह प्राइवेट बैंक अब अपने अन्त की ओर है। पिछले 9 दशकों से यह बैंक छोटे कर्ज बाँटकर और खुदरा व्यापार को प्रोत्साहित करके फल-फूल रहा था। लेकिन कुछ दिनों से इसकी वित्तीय स्थिति बहुत खराब चल रही है, जिसके चलते आरबीआई (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) ने इसके अधिग्रहण को मंजूरी दे दी। अब इसका विलय सिंगापुर के डीबीएस बैंक में हो गया है। आरबीआई ने एक महीने तक बैंक से पैसे निकालने की सीमा तय कर दी थी। खाता धारक एक दिन में अधिकतम 25 हजार रुपये ही निकाल सकते थे। याद रहे कि पिछले साल पीएमसी बैंक के डूबने के बाद भी आरबीआई ने ऐसी ही रोक लगायी थी जिसके चलते हजारों लोग कंगाली की हालत में आ गये थे और दस से ज्यादा खाता धारकों की जान चली गयी थी। क्या यही कहानी इस बार फिर दोहरायी जा रही है? क्या हजारों लोगों की खून-पसीने की कमाई खतरे में है?

लक्ष्मी विलास बैंक भारत में बैंकिंग क्षेत्र के संकट की अगली कड़ी के रूप में नजर आ रहा है। पीएमसी और यश बैंक के बाद इस बैंक की बर्बादी से यह सवाल उठता है कि आखिर इतनी तेजी से एक के बाद एक बैंकों की बरबादी का क्या कारण है? रिजर्व बैंक के गवर्नर शक्तिकान्त दास ने पीएमसी बैंक की बर्बादी के समय दावा किया था कि भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मजबूत और स्थिर है, यह बैंक के प्रबन्धन की कमी का नतीजा है। हर बार संकट के समय सरकार और आरबीआई की तरफ से यही पुराना राग सुनाई पड़ता है। क्या सच में बैंकों की बर्बादी का मुख्य कारण उनके प्रबन्धन की कमी या उनका भ्रष्ट होना है? तेजी से रसातल में जाते बैंकिंग क्षेत्र के संकट को अब इन सतही बातों से नहीं छिपाया जा सकता है। मौजूदा हालात में इस संकट को समझना बहुत जरूरी है। करोड़ों मेहनतकश लोगों की बैंकों में जमा-पूँजी आज दाँव पर लगी है। ऐसे में यह बेहद जरूरी हो जाता है कि इस संकट के असली कारणों की जाँच-पड़ताल कर सही नतीजों तक पहुँचा जाये।

लक्ष्मी विलास बैंक एक प्राइवेट बैंक है। उसके डूबने का कारण उसकी आर्थिक हैसियत से ज्यादा कर्ज देना बताया जा रहा है। इसने बड़ी संख्या में निर्माण, कपड़ा, रीयल एस्टेट आदि क्षेत्रों में बड़े कॉर्पोरेट कर्ज दिये जिनका भुगतान न होने पर यह बैंक नगदी की कमी के कारण संकटग्रस्त हो गया। यस बैंक के डूबने का कारण भी यही बताया गया था। अगर ऐसा है तो कोई भी बैंक बड़े कर्ज क्यों देता है? इसे समझने के लिए हमें बैंक, बीमा और वित्तीय क्षेत्र तथा उद्योग-व्यापार क्षेत्र में लगे पूँजीपतियों के परस्पर सम्बन्धों को समझना होगा। उद्योगपतियों के बीच बाजार पर कब्जा कर ज्यादा मुनाफा कमाने की होड़ लगी रहती है। इसी होड़ मे छोटी पूँजी के उद्योगपति बर्बाद होते हैं और बड़ी पूँजी वाले एकाधिकार कायम करते हैं। अपने मुनाफे को लगातार बढ़ाते रहने के लिए उन्हें बैंकों से अधिकाधिक पूँजी प्राप्त कर अपने कारोबार को निरन्तर विस्तारित करने की जरूरत होती है। लेकिन एकाधिकार की यह होड़ केवल उद्योगपतियों में ही नहीं बल्कि स्वयं बैंक, बीमा और वित्तीय क्षेत्र के पूँजीपतियों में भी होती है। इस होड़ में आगे बढ़ने के लिए वे ज्यादा से ज्यादा कारोबारियों को बड़े-बड़े कर्ज देकर अपनी हिस्सेदारी और मुनाफा सुनिश्चित करते हैं और अपनी पूँजी को बढ़ाते हैं।

लेकिन कई बार व्यापार का यह खेल जल्दी ही बिगड़ने लगता है। बैंक की विशाल पूँजी से सभी पूँजीपति अपने उत्पादन और कारोबार का न केवल विस्तार करते हैं बल्कि अपनी पूँजी शेयर बाजार में भी लगाते हैं। खुद बैंक और उससे जुड़े पूँजीपति भी तेजी से मुनाफा कमाने के लिए शेयर बाजार में भारी निवेश करते हैं। लेकिन कुछ सालों से जारी वैश्विक मन्दी के कारण यह विस्तार थम गया है। इसका परिणाम 'अति-उत्पादन' के रूप में सामने आ रहा है क्योंकि बेरोजगारी और कम वेतन के कारण

लोगों की क्रय शक्ति बेहद कमजोर हो गयी है। इस स्थिति में पूँजीपति खुद को दिवालिया घोषित कर बैंक का सारा कर्ज निगल रहे हैं और इन्हें कर्ज देने वाले बैंक डूब रहे हैं जिनमें आम जनता की जमा-पूँजी होती है। यही लक्ष्मी विलास बैंक के साथ हुआ। 2008 से पहले इसने बड़े कर्ज देकर खूब मुनाफा कमाया। 2008 की मन्दी के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था भी लगातार गहरे संकट की ओर बढ़ने लगी थी। लेकिन इस बैंक ने बड़े कर्ज देना जारी रखा। 2007 में जहाँ इसने 3,612 करोड़ का कर्ज दिया था वहीं यह 2013 में बढ़कर 11,702 करोड़ हो गया था और यह संख्या साल-दर-साल बढ़ती ही रही। मन्दी के कारण उद्योगपतियों के मुनाफे में गिरावट आयी और जिसका खामियाजा बैंक को भुगतना पड़ा। मौजूदा आर्थिक संकट के दौर में यह बर्बादी की कहानी केवल एक बैंक के गलत प्रबन्धन की नहीं है बल्कि यह एक आम नियम है।

बैंकों के बर्बाद होने के असली कारणों को छुपाकर अक्सर सरकार की तरफ से यह तर्क सुनने को मिलता है कि संकट सरकारी बैंकों में है, निजी क्षेत्र के बैंक अच्छी स्थिति में है। पिछले दिनों आरबीआई की एक कमिटी ने सिफारिश की थी कि अब उद्योगपतियों को भी बैंक खोलने की अनुमति दी जाये। इस कमिटी ने 3 बड़ी सिफारिशें की हैं जिनमें बैंकों के निजीकरण, गैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनी को बैंकों में तब्दील करना और निजी बैंकों में प्रवर्तकों यानी पूँजीपतियों की हिस्सेदारी बढ़ाना शामिल है। गौर करने वाली बात यह है कि यह सिफारिश ऐसे समय में निजी बैंकों को बढ़ावा देने की बात करती है जब एक के बाद एक निजी बैंक बर्बाद हो रहे हैं। लक्ष्मी विलास बैंक से पहले निजी क्षेत्र के ही एचडीएफसी,आईसीआईसीआई और एक्सिस बैंक संकटग्रस्त हो चुके हैं। भारत के बैंकिंग इतिहास में अब तक 600 निजी बैंक डूब चुके हैं। क्या वास्तव में बैंकिंग क्षेत्र के संकट को निजीकरण के जरिये हल किया जा सकता है या कमिटी की ये सिफारिशें आर्थिक मन्दी के इस दौर में आम जनता की मेहनत की कमाई को चन्द पूँजीपतियों के हवाले करने की साजिश हैं?

कर्ज देने में निजी या सरकारी बैंकों में कोई अन्तर नहीं बचा है। आईएलएण्डएफएस, दीवान हाउसिंग, अनिल अम्बानी ग्रुप आदि को निजी और सरकारी दोनों बैंकों ने खूब कर्ज दिया और भुगतान न होने पर दोनों क्षेत्र के बैंक डूब गये। जब निजी और सरकारी दोनों क्षेत्र के बैंकों की कार्यप्रणाली में मूलतः कोई अन्तर नहीं, तो आखिर आरबीआई की सिफारिशों से किसे लाभ होगा? अभी तक किसी उद्योगपति को बैंक खोलने की अनुमति नहीं है, वह बैंक का ग्राहक हो सकता है। वह अपने व्यापार को चलाने के लिए बैंक से कर्ज लेता है और बदले में अपने मुनाफे से बैंक को ब्याज देता है। इस ब्याज से कर्मचारियों को वेतन और जमाकर्ताओं को ब्याज दिया जाता है और जो बचता है, वह बैंक का मुनाफा होता है। इसी तरह बैंक का कारोबार चलता है। लेकिन आज अडानी-अम्बानी जैसे पूँजीपति खुद बैंक के मालिक बनना चाह रहे हैं। निजीकरण के बाद वे सरकारी बैंकों के मालिक बन जायेंगे और इसमें जमा जनता की गाढ़ी कमाई को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करेंगे। इससे ये उद्योगपति तो और मालामाल हो जाएँगे, लेकिन पहले से ही बदहाल जनता अपनी बची-खुची जमा-पूँजी से भी हाथ धो बैठेगी। इसी वजह से अभी तक बैंक की पूरी हिस्सेदारी किसी भी उद्योगपति को नहीं दी गयी थी।

हाल ही में आरबीआई की सालाना रिपोर्ट एफएसआर (वित्तीय स्थिरता रिपोर्ट) आयी है, यह भारत की मौजूदा वित्तीय हालत का बयान करती है। इस रिपोर्ट के अनुसार एनपीए यानी डूबे हुए कर्ज 20 साल के सर्वोच्च स्तर पर पहुँच गये हैं। पूरे बैंकिंग क्षेत्र यानी निजी, सरकारी और सहकारी बैंकों के 42 फीसदी कॉर्पोरेट द्वारा लिया गया कर्ज डूबने की कगार पर है। भारत के सर्वोच्च 5 बैंकों का 45 फीसदी मुनाफा कम हो गया है। कोरोना काल में लगी पाबन्दियों और श्रम कानूनों में बदलाव के चलते करोड़ों लोगों के रोजगार छिन गये और आगे भी रोजगार सृजन की कोई उम्मीद नहीं दिखती। इसके कारण बड़े पैमाने पर होम कर्ज, कार कर्ज आदि छोटे कर्जों पर भी भुगतान न होने के चलते संकट बढ़ने लगा है। यह आने वाले संकट की आहट है जिसमें कितने ही बैंकों की बर्बादी छुपी हुई है, करोड़ों आम लोगों की जमा-पूँजी पर संकट के बादल छाये हुए हैं। लेकिन ऐसे समय में आम जनता की भलाई के लिए ठोस कदम उठाने की जगह सरकार करोड़ों लोगों की कीमत पर मुट्ठी भर पूँजीपतियों का हित साधने में लगी हुई है। याद रहे, किसी भी संकट का खामियाजा आखिरकार जनता को ही भुगतना पड़ता है। एक तरफ तो जनता की जमा-पूँजी बर्बाद होने की कगार पर है वहीं दूसरी तरफ मन्दी के दौर में नौकरी जाने से जो लोग बैंक के कर्ज की किस्त चुकाने में असमर्थ हो रहे हैं तो उनकी सम्पत्ति तक कुर्क करने की खबरें सामने आ रही हैं। वहीं दूसरी ओर दिवालिया कानून बनाकर पूँजीपतियों को हर तरह के कर्ज से छुटकारा दिलाने का रास्ता साफ किया जा रहा है। बैंक को पूँजीपतियों को सौंपने की तैयारी भी की जा रही है जिससे मन्दी में भी जनता के पैसों से उनके मुनाफे को पूरा किया जा सके।

नोबेल पुरस्कार : नीलामी का सिद्धान्त या सिद्धान्त का दिवाला?

-- अमित इकबाल

पॉल मिल्ग्रोम और रॉजर विल्सन को इस साल के अर्थशास्त्र के नोबेल स्मारक पुरस्कार से नवाजा गया है। अर्थशास्त्र के जिस खास धारा में इन्हें महारत हासिल है वह है "ऑक्शन थ्योरी" यानी नीलामी का सिद्धान्त। इससे पहले विलियम विकेरी, गणितज्ञ जॉन नैश आदि को भी इस क्षेत्र के शुरुआती सिद्धान्त (गेम थ्योरी) में योगदान के लिए इसी पुरस्कार से नवाजा गया था। इस खास विषय में शोध करने का और उसमें महारत हासिल करने का क्या महत्त्व है, इसे समझने के लिए हमें पहले जानना होगा कि यह सिद्धान्त क्या है।

नीलामी का सिद्धान्त

सीधे नीलामी के बारे में बात करने से पहले अगर हम 'गेम थ्योरी' से शुरू करें तो समझने में आसानी होगी। दरअसल गेम थ्योरी का विषय होता है-- किसी सामान्य हित के बारे में टकराव। यूँ समझा जाये मजदूरी बढ़ने से मजदूरों का भला होगा और घटने से मालिक का। गेम थ्योरी इस टकराव में एक खास समाधान पर पहुँचने का जरिया है जहाँ दोनों पक्ष कहे 'न तेरा, न मेरा' और खुशी-खुशी अपने-अपने काम पर लग जायें। कई बार मजदूर संगठन और कारखाने के प्रबन्धन समिति के बीच का समझौता वार्ता दरअसल इस गेम थ्योरी का ही उदाहरण है। अब ऐसे बैठक का नतीजा कभी दोनों पक्ष को खुश करती है, कभी नहीं। किसी फैसले से जब दोनों पक्ष खुश हो जायें तो उसे इस टकराव का "नैश समाधान" कहा जाता है। लेकिन जैसा कि हमें मालूम है, मजदूर और मालिक के बीच कोई सामान्य हित है ही नहीं, इसलिए इनके बीच के टकराव का कोई भी समाधान "नैश समाधान" होने से रहा। फिर जो बच जाता है, उससे आप खुश होइए या नाराज, दिहाड़ी तो उतनी ही मिलेगी जितनी मालिक देना चाहते हैं, आप मुफ्त में काम करना चाहते हैं तो और सही।

इससे आगे बढ़कर इस सिद्धान्त का इस्तेमाल कई तरह के जटिल आर्थिक और वित्तीय मामलों में किया जाता है जिनमें से एक है नीलामी। आये दिन अखबार में कभी गाँधीजी का चश्मा, टीपू सुल्तान की तलवार, एमएफ हुसैन की चित्रकारी आदि नीलाम होने की खबरें आती रहती हैं। इसका तरीका वही है जैसे हम फिल्मों में देखते हैं। नीलाम करने वाला और खरीदार एक जगह इकठ्ठा होते हैं और उस सामान पर बोली लगायी जाती है। अन्त में सबसे ऊँची बोली लगाने वाले नीलाम जीतकर बोली का रकम चुकाते हैं और सामान अपने साथ ले जाते हैं। नीलामी के इस खास तरीके को अंग्रेजी में ऑक्शन कहा जाता है। एक दूसरा तरीका भी है जो अक्सर आपको समुन्दर किनारे मछुआरों को करते हुए देखने को मिलेगा। सुबह मछुआरा अपने जाल में फँसी हुई मछली की बोली खुद लगाता है और खरीदार न मिलने पर वह बोली की रकम घटाता रहता है। ऐसे में दूसरी या तीसरी बोली पर अक्सर उसकी मछली बिक जाती है। नीलामी के इस तरीके को डच ऑक्शन कहा जाता है। इसके अलावा जो हम रोज अखबार में देखते हैं वह है इसका तीसरा तरीका, सील्ड ऑक्शन यानी टेण्डर बुलाना। किसी सरकारी संस्था की तरफ से कोई बिल्डिंग, सड़क आदि निर्माण के लिए बन्द लिफाफे में बोली लगाने का इश्तेहार दिया जाता है। अलग-अलग कम्पनी अपनी तरफ से जोड़-घटा करके बन्द लिफाफे में अपनी बोली की रकम जमा करती है और सबसे कम खर्च में विश्वसनीय तरीके से प्रस्ताव देने वाले को टेण्डर हासिल होता है।

अर्थशास्त्री विल्सन और मिल्ग्रोम साहब का योगदान मोटे तौर पर यह है कि जटिल गणितीय और आर्थिक सूत्रों को मद्देनजर रखते हुए वे इस फैसले पर पहुँचे हैं कि 'इंग्लिश ऑक्शन' ही अब तक सबसे बेहतर नीलामी का तरीका रहा है क्योंकि वे इस क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं इसलिए अक्सर अमरीकी तथा दूसरे देशों की सरकारें, दानवाकार कॉर्पोरेट आदि उनसे नीलामी के बारे में सलाह लेते रहते हैं। अमरीकी स्पेक्ट्रम की नीलामी के सलाहकार वे ही थे। उनका यह भी कहना है कि तरह-तरह के सरकारी उद्योग या सार्वजनिक सेवा उपक्रमों को निजी हाथों में सीधे हस्तान्तर करने के बजाय नीलामी करना ही सही रहेगा क्योंकि नीलामी के जरिये आने वाली रकम सरकारी राजस्व में इजाफा करने में मदद करेगी।

दर्शन का दिवाला?

नीलामी के सभी सिद्धान्तकार इस बारे में सहमत हैं कि सार्वजनिक उपक्रमों को बेचने का सबसे सही तरीका है नीलामी। उनका कहना है कि नीलामी करते हुए सरकार का ध्यान बस इस बात पर हो कि इस नीलामी से राजस्व में कितना ज्यादा इजाफा होगा। भारत में पिछले कई दशक से ही सार्वजनिक उपक्रमों को निजी कम्पनियों के हाथों बेचने का कार्यक्रम चल रहा है। इस सदी की शुरुआत में बालको, नाल्को, हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड आदि धातु उद्योग को वेदान्ता गिरोह के हाथ बेच दिया गया, वह भी उनकी बाजार दर से कम कीमत पर। भारत एलुमिनियम कम्पनी या बालको का 51 फीसदी शेयर जब 2001 में महज 551 करोड़ रुपये में वेदान्ता को बेचा गया तब बाजार में उसकी कीमत थी 3000 करोड़ रुपये। ये नीलामी थी या नहीं हम नहीं कह सकते। लेकिन नीलामी इस देश की सरकार आये साल करती है। 2010 के टूजी स्पेक्ट्रम की नीलामी की जाँच-पड़ताल करके कैग ने बताया था कि सरकार को इस नीलामी से जितना रुपया मिलना था उससे 1,76,000 करोड़ रुपये कम मिला है, यानी भारी नुकसान हुआ है।

ऊपर दिये गये सभी उदाहरणों को आर्थिक परिभाषा में एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है जिसे 'विनिवेश' कहा जाता है। वेदान्ता गिरोह को सबसे ज्यादा फायदा हुआ था जब एक 'विनिवेश मंत्रालय' हुआ करता था और जिसमें आसीन थे श्री अरुण शौरी जी, जो पिछले कई साल से भाजपा से नाराज चल रहे हैं।

विनिवेश के बारे में भी इस नीलामी के सिद्धान्त के विशेषज्ञों का मानना है कि यह मौजूदा समय में राजस्व बढ़ाने का एक बेहतर जरिया है। किसी कार्रवाई के जरिये अगर सरकारी आय में इजाफा होती है तो अच्छी बात है क्योंकि उस बढ़ी हुई आय को बाद में जनकल्याणकारी योजना में खर्च होना ही है, जिससे कुछ और लोगों का भला होगा। इसका मतलब है जो लोग ईमानदारी से नीलामी की प्रक्रिया को और कुशल बनाने में लगे हुए हैं वे कुछ बातों को सही मानकर चलते हैं। जैसे-- पहला, मौजूदा राज्य का ढाँचा तथा उसे संचालित करने के लिए पूँजीवादी लोकतन्त्र, दोनों ही मानव सभ्यता का अन्तिम और उच्चतम पड़ाव है। इससे बेहतर न कुछ था और न कुछ होगा। हालाँकि स्थिति इसके ठीक उलट है। दूसरा, सरकार को शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, सड़क, रेल, विमान आदि सेवा से बाहर जाना जरूरी है क्योंकि, इन क्षेत्रों में सरकार की उपस्थिति के चलते निजी निवेश कम हो सकता है और इससे जीडीपी यानी सकल घरेलू उत्पाद में कमी आ सकती है। तीसरा, इस पूँजीवादी विकास के रास्ते में विकास दर कम होती रहती है, उससे निबटने का एक तरीका है सरकारी, यानी जनता के खून-पसीने से खड़ी की गयी सार्वजनिक सम्पत्ति की नीलामी। और अन्त में सबसे बढ़िया है निजीकरण क्योंकि निजी कम्पनियाँ अपना अस्तित्व, साख आदि बरकरार रखने के लिए लोगों को भरपूर सेवा देती रहेंगी।

और यही कारण है कि नीलामी के सिद्धान्त को इस सम्मान से नवाजा गया है। सरकार को जब उत्पादन नहीं करना है, स्वास्थ्य सेवा नहीं देनी है, शिक्षा नहीं देनी है, सड़कें, हवाई अड्डा, रेलगाड़ी, स्टेशन आदि बनवाकर निजी कम्पनियों के हाथ नीलाम ही करना है तो उनके सबसे बेहतर बुद्धिजीवियों के पास भी एक ही रास्ता बचा है-- नीलामी को कैसे और बेहतर किया जाये।

इस मोड़ पर आकर इसे मौजूदा जमाने के दिवालियापन का दर्शन नाम देना ज्यादा मुनासिब लगता है। जैसे भी सही, लोकतांत्रिक प्रक्रिया में चुनी गयी सरकार सबकुछ ताक पर रखकर बस नीलामी करने पर आमादा है। ऐसी स्थिति अक्सर तब आती है, जब किसी आदमी का अपना कोई सामान बेचे या गिरवी रखे बिना काम नहीं चल सकता। यानी साफ कहें तो दिवालिया लोगों का काम है एक के बाद एक सामान नीलाम करके अपना पेट भरना। आज हमारे देश का शासक वर्ग भी सरकारी खर्च कम करने के नाम पर सामाजिक सुरक्षा नीति, श्रम कानून से पीछा छुड़ा चुकी है, लेकिन सांसद-विधायकों की तनख्वाह रोज बढ़ती जा रही है। ऐसे में नीलामी की प्रक्रिया को बेहतर करने का शोध, चाहे कितनी ईमानदारी से क्यों न किया जा रहा हो, दरअसल बहुसंख्यक आबादी को लूटने के तरीके का शोध है।

कोई यह सवाल उठा सकता है कि किसी नये सिद्धान्त के बारे में ऐसी राय रखना कितना सही है? पहली बात अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान की ही एक धारा है, इस बात से किसी की असहमति नहीं होगी। सामजिक विज्ञान का मूलतः दो काम है। एक, मौजूदा सामाजिक स्थिति को समझना और दो, उसमें पायी गयी कमी दूर करके उसे बेहतर करने का रास्ता ढूँढना। लेकिन जो लोग मौजूदा आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को अन्तिम मान चुके हैं, उनको मौजूदा शासक वर्ग कितना ही सम्मान क्यों न दें, वे दरअसल बौद्धिक दिवालियापन के शिकार हैं, यह उनके "दर्शन की दरिद्रता" है। नोबेल पुरस्कार देकर दार्शनिक-वैचारिक दरिद्रता से ग्रसित अर्थशास्त्रियों को महिमामंडित करना वैसा ही है, जैसे कुछ वर्ष पहले दो सट्टेबाज अर्थशास्त्रियों को हेजफण्ड की खोज के लिए पुरस्कृत किया जाना। ये सट्टेबाजी को जोखिम से बचाने चले थे, जबकि उनकी खुद की कमाई सट्टेबाजी में ही डूब गयी।

छोटे दुकानदारों की बदहाली के दम पर उछाल मारती ऑनलाइन खुदरा कम्पनियाँ

--अनुराग मौर्य

गिरती अर्थव्यवस्था और कंगालीकरण के दौर में भी ऑनलाइन माफिया खूब कमाई कूट रहे हैं जबकि साधारण दुकानदार या रेड़ी-खोमचे और सब्जी बेचने वालों की चिन्ता यह है कि कौन-सा सामान, फल और सब्जी लायी जाये, जिससे ग्राहक के जेब पर बोझ कम पड़े और उनकी आजीविका भी चलती रहे। दूसरी तरफ ऑनलाइन बाजार के माफिया इन दुकानदारों को बाजार से उखाड़कर उनके बचे-खुचे बाजार पर भी कब्जा कर लेने की साजिश रच रहे हैं। सरकार की भूमिका इन ई-कॉमर्स माफियाओं के लिए बाजार की हिस्सेदारी बढ़ाने और इनके मुनाफे की गारन्टी के लिए सुविधा प्रदान करने तक सीमित रह गयी है।

नोटबन्दी के बाद से ही देश में ई-कॉमर्स कम्पनियों की तादात बढ़ने लगी थी। ऑनलाइन प्लेटफॉर्म का इस्तेमाल कर ये कम्पनियाँ तरह-तरह के सामान बेचने का काम कर रही थी। देश की दो बड़ी ई-कॉमर्स कम्पनियों जेफ बेजोस की अमेजन और वालमार्ट की फ्लिपकार्ट का भारतीय ई-कॉमर्स के बाजार पर 60 से 70 प्रतिशत कब्जा हो गया है। ये बड़ी पूँजी और राजनीति समर्थित कम्पनियाँ हैं जिसके चलते ही ये भारतीय बाजार में पैठ जमाने में सफल हो सकी हैं। लेकिन ऑनलाइन कारोबार में मुकेश अम्बानी के जियोमार्ट के दखल के चलते भारतीय ई-कामर्स बाजार का समीकरण अब तेजी से बदल रहा है जिसको समझने के लिए इसके विभिन्न पहलुओं पर गौर करना जरूरी है।

स्थानीय दुकानदारों और देशी-विदेशी पूँजीपतियों की टकराहट

ई-कॉमर्स बाजार में जियोमार्ट के आने से एकाधिकारी पूँजी के बीच बाजार को लेकर प्रतिस्पर्धा में देश के खुदरा व्यापारियों के लिए ही नहीं, बल्कि छोटी-बड़ी ई-कामर्स कम्पनियों के लिए भी अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई होगी। हालाँकि खुदरा व्यापारी पहले से ही ऑनलाइन कम्पनियों के कारोबार के तरीकों को लेकर समय-समय पर आन्दोलन और धरना-प्रदर्शन करते रहे हैं। खुदरा व्यवसायी सरकार से बार-बार इस पर नियामक बनाने की अपील करते रहे हैं। यह वर्ग भाजपा सरकार के लिए बहुत बड़ा और पुराना वोट बैंक है, लेकिन अडानी-अम्बानी जैसे एकाधिकारी पूँजी के मालिक ही देश की राजनीति तय करते हैं। हालत तो यह है कि सरकार बनाने का काम भी यही वर्ग करता है। ऐसे में इन आकाओं के खिलाफ सरकार नियामक कैसे बनाये?

ऑनलाइन किराना बाजार

बिग बास्केट और ग्रोफर्स की ऑनलाइन किराना बाजार में 80 प्रतिशत हिस्सेदारी थी, लेकिन जियोमार्ट के किराना बाजार में उतरने से किराना खुदरा व्यापारी तो तबाह होंगे ही साथ ही बाजार में पहले से लगी हुई ऑनलाइन कम्पनी बिग बास्केट और ग्रोफर्स के लिए अपना बाजार सम्भालना मुश्किल हो जाएगा।

बढ़ते ऑनलाइन कारोबार की वजह से खुदरा कारोबारियों की खराब हालत किसी से छुपी नहीं है। खुदरा कारोबारी पहले से ऑनलाइन कारोबार के बढ़ते ढाँचे के खिलाफ रोष प्रकट करते आ रहे हैं। जियोमार्ट के खुदरा व्यापार में उतरने से देश के कुल 3 करोड़ रजिस्टर्ड कारोबारियों में से एक बड़ी संख्या बाजार से बाहर धकेल दी जाएगी। साथ ही इनसे जुड़े छोटे कारोबारी, छोटे-मझोले निर्माता और उनके साथ मिलकर काम करने वाले लाखों कर्मचारी भी दर-बदर ठोकर खाने को मजबूर हो जाएँगे।

देश आज कोरोना महामारी का दंश झेल रहा है, लोगों की नौकरियाँ छिन चुकी हैं और लगातार छिनती जा रही है। आमदनी का जरिया सिमट चुका है और उपभोग करने वालों की हालत बेहद खराब है। फिर भी दैत्याकार ऑनलाइन कम्पनियाँ अपना इनफ्रास्ट्रक्चर तेजी से बढ़ रही हैं और महामारी से उबरने के बाद लाखों लोगों की बेरोजगारी की कीमत पर बाजार पर अधिकार जमाने के लिए कमर कस चुकी हैं।

देशी-विदेशी पूँजीपतियों की आपसी टकराहट

देशी-विदेशी पूँजी के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा का एक नमूना हम वोडाफोन-एयरटेल और जियो टेलिकॉम के बीच प्रतिस्पर्धा और परिणामों के रूप में देख चुके हैं। जियो की हिस्सेदारी राष्ट्रीय बाजार में शून्य से बढ़कर 34 प्रतिशत तक हो चुकी है जबकि पहले से अव्वल टेलिकॉम कम्पनी एयरटेल की बाजार पर हिस्सेदारी सिमट कर 28 प्रतिशत हो गयी है। जाहिर है कि मुकेश अम्बानी की पकड़ राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी अन्य कम्पनी या व्यक्ति से ज्यादा है जिसके चलते उनके आगे किसी भी कम्पनी को बैकफुट पर लाकर

खड़ाकर दिया जाता है।

पहले से छिन्न-भिन्न ढाँचे के साथ चल रही कम्पनी एयरटेल पर पिछले दिनों कोर्ट ने 3 अरब डॉलर का हर्जाना लगाया है। वोडाफोन कर्ज में डूबी हुई है और अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्षरत है। टेलिकॉम की बची हुई कम्पनियाँ अब अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती नजर आ रही हैं। जियो को आबाद करने की शर्त पर ही सरकारी कम्पनी बीएसएनएल को भी बर्बाद कर दिया गया है जबकि कई दूसरी कम्पनियों का नाम तक बाजार से गायब हो चुका है।

हाल ही में फर्जी कॉल और मैसेज पर रोक न लगाने के लिए ट्राई ने बीएसएनएल, जियो, एयरटेल, वोडाफोन-आइडिया सहित अन्य कम्पनियों पर कुल 35 करोड़ का जुर्माना लगाया है। इसमें से अकेले सरकारी कम्पनी बीएसएनएल पर 30.1 करोड़ का जुर्माना है।

ई-कॉमर्स बाजार में जियोमार्ट आने से हूबहू यही समीकरण उस क्षेत्र में भी बनता दिख रहा है। ई-कॉमर्स बाजार में यह और भी भयावह साबित होने वाला है। अम्बानी के जियोमार्ट की घोषणा करने के बाद ही देश में पहले से चल रही ऑनलाइन कम्पनियों अमेजन, फ्लिपकार्ट, एमवे सहित अन्य कम्पनियाँ अपने ढाँचे को मजबूत करने के लिए भारी निवेश की घोषणा कर चुकी हैं।

विदेशी निवेशकों को डर है कि कहीं उनका हाल एयरटेल और वोडाफोन जैसी न हो जाये। दूसरी ओर, सरकार विदेशी निवेशकों को बुलाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रही है। ऐसे माहौल में नये निवेशक कैसे आएँगे? जबकि पहले से ही जो निवेशक बाजार में हैं उन्हे सिकोड़ा जा रहा है।

देशी-विदेशी पूँजीपतियों की मुनाफे की हवस उस भूखे भेड़ियों जैसी है जो पहले तो साथ मिलकर शिकार को नोचते हैं। लेकिन मांस खत्म हो जाने और भूख बढ़ने पर एक-दूसरे को अपना शिकार बनाकर हजम कर लेते हैं।

फार्मेसी बाजार पर गिद्ध दृष्टि

ई-फार्मेसी के क्षेत्र में अभी तक गिनी-चुनी देशी कम्पनियाँ नेट्मेड्स, वन एमजी, फार्मईजी, मेडलाइफ आदि ही क्षेत्रीय स्तर पर कुछ बड़े शहरों के आस-पास कार्यरत थीं। खुदरा दवा बाजार पर अब बड़ी ऑनलाइन कम्पनियों की गिद्ध दृष्टि गड़ गयी हैं। इसके चलते ही पिछले दिनों रिलायंस ने नेटमेड्स की 60 प्रतिशत हिस्सेदारी खरीद ली है जबकि अमेजन इस कारोबार में पहले ही उतर चुकी है और फ्लिपकार्ट भी ई-फार्मेसी बाजार में उतरने की घोषणा कर चुकी है। कुछ दिनों में खुदरा दवा बाजार की हालत भी खुदरा व्यापारियों जैसी होने वाली है, जैसे-- ऑनलाइन मोबाइल कम्पनियों के बाजार में आने के बाद मोबाइल दुकानदारों की हुई है।

ऑनलाइन मार्केटिंग की दैत्याकार कम्पनियाँ पहले किसी एक भारी मुनाफे वाले बाजार में पैर पसारती हैं, फिर उस बाजार को तहस-नहस करके नये शिकार की तरफ बढ़ती हैं क्योंकि इनकी मुनाफे की भूख कभी शान्त नहीं होती। भारतीय बाजार में ही देखा जाये तो सबसे पहला शिकार मोबाइल बाजार बना, फिर दूसरे इलेक्ट्रॉनिक्स उपकरण, फिर खुदरा किराना और अब खुदरा दवा बाजार पर इनकी नजर है।

शुरू में व्यापार करने, सुविधा देने और नौकरी देने का दावा करने वाली ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ धीरे-धीरे वहाँ के क्षेत्रीय बाजार की संरचना को छिन्न-भिन्न करने में कोई कसर नहीं छोड़ती और न ही छोड़ा है। बड़ी पूँजी के साथ ही इन बहुआयामी मुनाफाखोर कम्पनियों की मुनाफाखोरी का कोई उसूल नहीं होता। ये कम्पनियाँ पहले भी कई देशों के स्थानीय बाजार को जड़ से उखाड़ कर अपना एकाधिकार जमा चुकी हैं। अमेजन, फ्लिपकार्ट और जियो भारतीय ऑनलाइन कारोबार के माफिया बन चुके हैं। सरकार ने इन ऑनलाइन माफियाओं को भेंट में देशी बाजार अर्पित कर दिया है। इससे देशी बाजार में कारोबार करनेवाले करोड़ों छोटे और मझोले दुकानदारों की रोजी-रोटी खतरे में है।

किसान आन्दोलन पर सरकार की ओर से लीपा-पोती

भाजपा सरकार के मंत्री, रविशंकर प्रसाद कहते हैं कि विपक्ष दोगला है, कांग्रेस खुद इन कानूनों को लाना चाहती थी और अब विरोध कर रही है। इनसे कोई पूछे कि आप भी तो उस समय इन कानूनों का विरोध कर रहे थे और अब लाने पर इतने उतारू हुए हो कि किसान खेत छोड़कर धरने पर बैठा है और आपको समझ नहीं आ रहा जो सत्ता में आने से पहले आ रहा था। सत्ता है क्या, जिसपर बैठते ही कॉर्पोरेट परस्त हो जाते हैं।

प्रधानमंत्री कह रहे हैं कि शताब्दी पुराने कानून अगली शताब्दी तक बोझ हो जाते हैं, सुधार की प्रक्रिया जारी रहनी चाहिए। उनसे कोई पूछे कि हजारों साल पुरानी परम्पराएँ समाज पर बोझ नहीं हो जातीं? आप समाज को संस्कृति के नाम पर गाय और गोबर में घुसाये रखना चाहते हैं और सुधार राग अलाप रहे हैं।

देश के नागरिक को ये इतना आत्म निर्भर बना चुके हैं कि वह सरकार से कुछ न माँगे, न बिजली, न पानी, न फोन, न रेल, न सड़क, न कपड़ा, और अब किसान को आत्मनिर्भर बनाने की प्रक्रिया में हैं कि रोटी भी इनसे न माँगें। जो माँगें निजी कम्पनियों से माँगें, सेवा उनकी, माल उनका, बाजार उनका, दाम उनके, जेब अपनी, सरकार बरी।

--कनुप्रिया की फेसबुक स्टेटस से

गिग अर्थव्यवस्था का बढ़ता दबदबा

-- राजेश कुमार

अर्थव्यवस्था का एक नया रूप है-- गिग अर्थव्यवस्था। यह शब्द भले ही नया है, पर इस तरह की अर्थव्यवस्था से हम सब किसी न किसी रूप में परिचित हैं। आज गिग अर्थव्यवस्था दुनियाभर में तेजी से पैर पसार रही है। कम्पनियों की पहली चाहत गिग मजदूर बन गये हैं।

आज बढ़ती तकनीक और कम्युनिकेशन के माध्यमों ने हम सब की जिन्दगी को बदल दिया है। जिन्दगी के सभी आयाम किसी न किसी रूप में नयी तकनीक से प्रभावित हैं। आज इण्टरनेट और स्मार्टफोन शरीर के अभिन्न अंगों की तरह हो गये हैं। मथुरा में बैठे नौजवान को अमरीकी राष्ट्रपति के द्वारा किया गया ट्वीट पल भर में मिल जाता है। कम्युनिकेशन का इतना सशक्त माध्यम पहले कभी नहीं रहा। इस तकनीक तक आम आदमी की जितनी पहुँच बढ़ी है, जितना फायदा होता हुआ दिखायी देता है उससे लाखों गुना फायदा साम्राज्यवादी देशों और उनके बड़े-बड़े निगमों ने उठाया है। गिग अर्थव्यवस्था गिग मजदूर के शोषण करने की एक नयी व्यवस्था है।

कुछ ठोस उदाहरण लेते हैं। शहरों और कस्बों में टैक्सी सुविधा उपलब्ध कराने वाली कम्पनी उबेर को आज सभी स्मार्टफोन धारक जानते हैं। इसमें गाड़ी का ड्राइवर एक स्मार्टफोन के माध्यम से उबेर से जुड़ा रहता है। ग्राहक भी स्मार्टफोन के जरिये कम्पनी से जुड़े होते हैं। कम्पनी के ग्राहक को ड्राइवर ने एक शहर से दूसरे शहर जाने की सुविधा उपलब्ध करायी। बदले में ग्राहक ने कम्पनी को भुगतान किया। कम्पनी ने अपना हिस्सा लेकर बचा हुआ ड्राइवर के खाते में भेज दिया। अब थोड़ा गौर कीजिए-- ग्राहक कम्पनी से जुड़ा है, सेवा देने वाला कर्मचारी कम्पनी का नहीं है। वह सिर्फ अपनी सेवा दे रहा है। बदले में एक तय कीमत उसे मिल जाएगी। इसे ही गिग अर्थव्यवस्था कहते हैं। इसमें शामिल कर्मचारियों को गिग मजदूर कहते हैं। नेशनल लॉ स्कूल ऑफ इण्डिया के जननीति संस्थान द्वारा एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई जो बताती है कि गिग मजदूर को आठ घण्टे से ज्यादा कार्यदिवस में भी न्यूनतम मजदूरी जितने रुपये नहीं मिलते।

उबेर में सेवारत ड्राइवर को कम्पनी ने नियुक्त नहीं किया। उसका कोई मासिक वेतन नहीं है। उसकी कोई साप्ताहिक छुट्टी नहीं है। कोई मेडिकल छुट्टी नहीं है। जितने घण्टे वह काम करेगा उतने की मजदूरी मिलेगी। ड्राइवर के प्रति कम्पनी की कोई जिम्मेदारी नहीं है। काम के दौरान चोट लगे, या मौत भी हो जाये तो कम्पनी की तरफ से कोई क्षतिपूर्ति नहीं की जाती। भारत से लेकर अमरीका तक सभी देशों में कम्पनी का यही रवैया है। इसी का नतीजा है कि एक तरफ उबेर जैसी कम्पनियों से जुड़े हुए ड्राइवर पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे काम करके किसी तरह गाड़ियों की किस्त निकाल पाते हैं। दूसरी तरफ उबेर का मालिक ट्रावित कॉर्डेल कैलिफोर्निया में बैठा-बैठा अरबपति बन जाता है। आज उसकी घोषित सम्पत्ति ढाई अरब डॉलर (1,75,000 करोड़ रुपये) से भी ज्यादा है।

पूरी दुनिया में इस तरह की सैकड़ों दिग्गज कम्पनियाँ काम कर रही हैं जो सिर्फ एक प्लेटफॉर्म उपलब्ध कराती हैं। ग्राहक को सर्विस देने वाले से जोड़ती हैं और अरबों डॉलर कमाती हैं यानी हींग लगे न फिटकरी रंग भी चोखा होवे। ये कम्पनियाँ शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, भोजन, रिटेल, घर या प्लाट की खरीद बिक्री और किराये से सम्बन्धित, लेखन, अनुवाद, तकनीकी सहायता और कानूनी सेवाओं जैसे क्षेत्रों में काम कर रही हैं। इसमें अमेजन, फ्लिपकार्ट, जोमाटो, फ्रीलांसर, फील्ड नेशन, राकेट लॉयर, बर्ड और उबेर जैसी सैकड़ों कम्पनी शामिल हैं। गौर करने वाली बात यह है कि इनमें से 90 फीसदी से ज्यादा कम्पनियों के मालिक अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देशों से हैं। यानी साम्राज्यवादी देश अब किसी देश में सेना के साथ जाकर वहाँ के अर्थतंत्र पर कब्जा नहीं करते। बल्कि पूँजी और तकनीकी के दम पर वे किसी भी देश के सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे मजदूर से अपनी कम्पनी के लिए काम करवाते हैं और अकूत मुनाफा कमाते हैं। इस समय भारत में करीब तेरह करोड़ गिग मजदूर हैं। यह संख्या हर रोज बढ़ रही है। यहाँ तक कि देश में जो नये रोजगार पैदा हो रहे हैं उनमें 56 प्रतिशत गिग अर्थव्यवस्था से जुड़े हैं। एक तरफ सरकार की तरफ से श्रम कानूनों में ढील दी जा रही है दूसरी ओर उतनी ही संख्या गिग मजदूर की बढ़ रही है। गिग अर्थव्यवस्था के मुनाफे को देखते हुए भारत की तमाम कम्पनियाँ चाहती हैं कि उन्हें भी अस्थायी मजदूर रखने की छूट दी जाये। मतलब वे जब चाहें, जितनी देर

तक चाहें कर्मचारी को रखकर अपना काम निकाल लें।

अमरीका ने गिग अर्थव्यवस्था पर काफी समय पहले से ही काम करना शुरू कर दिया था। यही वजह है कि आज उसकी सैकड़ों कम्पनियाँ इस क्षेत्र में सबसे आगे हैं। उसके कई संस्थान गिग अर्थव्यवस्था के विश्लेषण के लिए ही पूरी तरह प्रतिबद्ध हैं। नाको (अमरीका के अलग-अलग क्षेत्रों का राष्ट्रीय संगठन) ने एक अध्ययन में बताया कि गिग अर्थव्यवस्था ही कारोबार का भविष्य है। खुद अमरीका में 36 फीसदी मजदूर गिग अर्थव्यवस्था का हिस्सा हैं। यूरोप में भी यह तेजी से बढ़ रही है। यूरोपीय यूनियन के देशों में भी करीब 10 फीसदी लोग गिग अर्थव्यवस्था से जुड़े हुए हैं।

गिग अर्थव्यवस्था का विस्तार ऐसे ही नहीं हो रहा है, बल्कि उसके अपने कुछ फायदे भी गिनाये जाते हैं। जैसे आप कभी भी काम कर सकते हैं। काम के लचीले घण्टे। आपका मन है दो घण्टे काम करने का तो दो ही घण्टे कीजिए। आप अपने घर से काम कर सकते हैं। परिवार के साथ रहकर। आप घूमते हुए काम कर सकते हैं। देश-दुनिया की यात्रा करें और काम भी करें। आपको किसी बॉस के सामने जी-हुजूरी नहीं करनी। आप खुद अपने मालिक हैं। कुल मिलाकर आपकी आजादी का इतना खयाल रखा जाता है कि खुद आपने भी न सोचा होगा। इसके फायदे इस तरह पेश किये जाते हैं, जैसे पूँजीवादी व्यवस्था ने मजदूर की जितनी आजादी छीनी, वह गिग अर्थव्यवस्था ने वापस कर दी हो। पर सच्चाई यह नहीं है।

पहली बात तो यह कि गिग अर्थव्यवस्था कोई अलग से आजादी पसन्द लोगों की अर्थव्यवस्था नहीं है। वह इसी पूँजीवादी व्यवस्था का हिस्सा है। उसकी गति का मुख्य कारक मुनाफा ही है। यहाँ तक कि फैक्ट्री लगाकर मजदूर का शोषण करके कोई पूँजीपति इतने मुनाफे की कल्पना भी नहीं कर सकता जितना मुनाफा गिग कम्पनियाँ एक मोबाइल ऐप बनाकर कमा लेती हैं। इसका मतलब हुआ यहाँ शोषण हजारों गुना है। हाँ ये उन लोगों के लिए जरूर अतिरिक्त आय का साधन बन गया है जो पहले से ही कहीं नौकरी करते हैं और साथ में ऑनलाइन काम करके कमाई कर लेते हैं।

जो लोग पूरे समय गिग अर्थव्यवस्था पर निर्भर हैं वे हमेशा काम की तलाश में मानसिक उत्पीड़न का शिकार रहते हैं। तरह-तरह के कौशल विकास कार्यक्रम वास्तव में गिग मजदूर की संख्या बढ़ाने के कार्यक्रम हैं। इनसे देश में ऐसे नौजवानों की फौज खड़ी हो जायेगी जो स्मार्ट फोन लेकर एक डॉलर के लिए आधी रात को भी जागकर बोलेगा-- हेलो मिस डोली, हाउ कैन आई हेल्प यू? एक हद तक भारत वैसी ही अर्थव्यवस्था बन चुका है। रहा बचा तेजी से उसी दिशा में बढ़ रहा है।

पूँजीवाद के शीर्ष देश, जी-7 का समूह आज माल उत्पादन पर आधारित अर्थव्यवस्था पर काम नहीं कर रहे। वे हथियार उत्पादन में जरूर बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं। इसके अलावा तकनीक आधारित शोषण आज उनकी पहली पसन्द है। गिग अर्थव्यवस्था इसी का हिस्सा है। हमारे देश के नेता भी इस तरह डिजिटलीकरण, विनिवेशीकरण और निजीकरण कर रहे हैं कि वह अपने देश से ज्यादा अमरीकी कम्पनियों को फायदा पहुँचाये। कौशल विकास भी विदेशी कम्पनियों के हितों के अनुसार किया जा रहा है। पर यह बात कौन समझाये कि गिग अर्थव्यवस्था में गिग मजदूर के नहीं गिग कम्पनियों के अच्छे दिन आते हैं।

सरकार आज चाहे तो गिग कम्पनियों पर रोक लगाकर उस काम को अपने हाथ में लेकर एक व्यवस्थागत रूप दे सकती है। उदाहरण के लिए उबेर की जगह "भारत" टैक्सी सर्विस चल सकती है। अमेजन की जगह कोई भारत सरकार का भी प्लेटफॉर्म हो सकता है जो ग्राहक और बिक्रेता को जोड़ दे। डिलीवरी के लिए नये पोस्टमैन की भर्ती करके सरकार अपने हाथ में जिम्मेदारी ले सकती। इससे असली रोजगार पैदा होगा और नौजवान सात समुन्दर पार की किसी कम्पनी के ऊपर निर्भर नहीं रहेंगे। तब असल में भारत आत्मनिर्भर बनेगा। पर जहाँ पहले से ही मुनाफे में चलने वाले संस्थानों को बेचकर खत्म करने की योजना चल रही हो, वहाँ बेचने की जगह नया बनाने की कौन सोचे?

लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की जरूरत है। गरीब, मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूंजीपति हैं। इसलिए तुम्हें इनके हथकंडों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी गरीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताकत अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करो। इन यत्नों से तुम्हारा नुकसान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी जंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

-- भगत सिंह

बच्चों के लिए भी जरूरी है सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता

-- कैरोलीन पॉल

अगर हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे बड़े होकर चिन्तनशील और सक्रिय नागरिक बने तो हमें मौजूदा दौर के सामाजिक बदलाव का हिस्सा बनने में उनकी मदद करनी चाहिए।

मैं तेजाबी बारिस (एसिड रेन) के खौफ के बीच बड़ी हुई। यह शब्द अपने आप में ही खौफनाक था और यह मुझे नींद से जगाते हुए चौंका देता था। क्या यह लोगों के चेहरे को गला देता है? क्या जंगली जानवर इससे बच पायेंगे? मेरे माँ-बाप राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं थे, लेकिन वे अच्छे नागरिक थे जो टिन की पन्नी का दुबारा इस्तेमाल करते थे और कँटीले जाल में फँसायी गयी टूना मछली खाने से परहेज करते थे। जब मैंने राष्ट्रपति निक्सन को चिट्ठी लिखने और अपने सवालों का जवाब माँगने का फैसला किया तो उन्होंने खुशी से ह्वाइट हाउस का पता दे दिया। लेकिन जवाब में जो चिट्ठी आयी उसमें कोई समाधान नहीं था, बल्कि उसमें जागरुक बच्चों की तारीफ में घिसीपिटी बातें थीं और अन्त में एक दस्तखत था जिसे मेरे नौ साल के दिमाग ने भी समझ लिया था कि ये मुहर है। न तो मेरे माँ-बाप और न ही मैं यह जानती थी कि इसके अलावा क्या कार्रवाई की जा सकती है। मैं अब भी डरी हुई थी और बड़े लोगों से बेहद निराश थी।

पीछे मुड़कर देखते हुए सोचती हूँ कि काश उन दिनों मेरे अन्दर राजनीतिक सक्रियता की थोड़ी समझ होती। और इससे भी आगे बढ़कर-- काश, मुझे उस कम उम्र में विशेषाधिकार, पूर्वाग्रह और अन्तरविरोध जैसी अवधारणाएँ सिखायी जातीं, बजाय इसके कि मैं अपनी युवावस्था की शुरुआत में सामाजिक शक्तियों से अनभिज्ञ रहती। यही कारण है कि एक किशोर के रूप में मैं फर्ग्यूसन से पार्कलैण्ड तक, अपने ही लोगों के बन्दूक की हिंसा से भयभीत, सड़कों पर उतरे लोगों के साथ उत्साह से शामिल हुई, जो सिटी हॉल और कांग्रेस की सीढ़ियों तक ले जाया गया। लेकिन छोटे बच्चों का क्या होगा? क्या हमें अपने छठी, पाँचवीं, यहाँ तक कि चौथी कक्षा वालों को भी कार्यकर्ता बनना नहीं सिखाना चाहिए? हाँ, बिलकुल। तुरन्त!

मैं मानती हूँ कि यह विवादास्पद मुद्दा है। "माता-पिता को राजनीतिक सक्रियता की बागडोर सम्भालनी चाहिए और बच्चों को बच्चा ही रहने देना चाहिए," एक व्यक्ति ने मेरी उस नवीनतम पुस्तक के जवाब में ट्विटर पर तर्क दिया, जिसमें नौ साल की उम्र वालों के लिए विरोध की रणनीति प्रस्तुत की गयी है। उन्होंने कहा कि बच्चों को सक्रियता सिखाना, उनके ऊपर वयस्क जैसी जिम्मेदारियाँ लादना है, "उन्हें हँसी और खुशी की भावना से वंचित करना है।"

ट्विटर के जरिये मुझसे परिचित उस व्यक्ति का दिल तो सही जगह पर है-- लेकिन फिर भी वह गलत है। अगर हम 10 साल की उम्र वालों को सक्रियता के बारे में सीखने से बचा भी लें, तो वे अन्याय से नहीं बच पायेंगे। उसने बेघर लोगों को सड़क पर देखा है। उसे क्लास रूम में अन्धाधुन्ध गोली चलानेवालों से बचने के अभ्यास में अपने डेस्क के नीचे बत्तख की तरह छुपना सिखाया गया है। हो सकता है कि उसके पूरे परिवार को जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित जंगल की आग/बाढ़/तूफान में से किसी एक वजह से पिछली गर्मियों में इलाका खाली करना पड़ा हो। यदि वह अश्वेत बच्चा है, तो उसने अक्सर शिक्षकों, दुकानदारों और पुलिस के द्वारा अपने साथ किये गये बुरे बर्ताव का अनुभव किया होगा।

फिर भी अगर आपको लगता है कि आपने अपने बच्चे को ऊपर बताये गये किसी भी अनुभव से बचाकर रखा है, तो भी यह तय है कि इण्टरनेट ने आपके किले की दीवारों को भेद दिया है। एक दोस्त का 10 साल का बेटा हाल ही में अपने स्कूल से लौटकर यह सवाल करता है, "माँ, रखैल क्या होती है?" (धन्यवाद, स्टॉर्मी डेनियल्स के गुस्से को।) सक्रियता को बच्चों की पहुँच से दूर रखना उनकी सुरक्षा नहीं करता है। यह उन्हें छोटा कर देता है-- उन्हें जीवन के लिए पूरी तरह तैयार न करके।

यह कोई राज की बात नहीं है--- बच्चे जानते हैं कि क्या चल रहा है।

वे इनसे बेहद परेशान हो जाने में भी समर्थ हैं। जिसे हम "सामाजिक न्याय" कह सकते हैं, उसका निचोड़ वही है जिसे बच्चे "निष्पक्षता" कहते हैं। जैसा कि किसी भी अभिभावक को पता होता है, बच्चे इस बात को लेकर सचेत रहते हैं कि किसको ज्यादा टॉफी-बिस्कुट मिलता है या कौन कम प्रशंसा पाता है; अध्ययनों से हमें पता चलता है कि 15 महीने के बच्चे भी समान व्यवहार को समझते हैं।

जातिभेद, नस्लभेद, लिंगभेद और वर्गभेद जैसे सामाजिक मुद्दे जटिल हैं, लेकिन उनमें निहित सरल अवधारणाओं को बच्चे व्यवहार से जोड़कर समझ सकते हैं और उनसे प्रभावित हो सकते हैं। चूँकि वे पहले से ही गैरबराबरी को महसूस करते हैं, अब जरूरत इस बात की है कि हम वयस्क लोग बच्चों को उन्हें समझने में मदद करें।

छोटे बच्चों के लिए हम जो सुरक्षा चाहते हैं, वह सामाजिक न्याय के मुद्दे को नजरअन्दाज कर देने से नहीं मिलती है, बल्कि

बच्चों को आश्वस्त करके हासिल होती है कि हम इस बात को समझा सकते हैं, भले ही हमारे पास अभी इसका कोई समाधान न हो। और एक कदम आगे जाना भी महत्त्वपूर्ण है। हमें बच्चों को यह सिखाना है कि कैसे जवाब देना है, उस रणनीति के साथ जो स्वैच्छिक कामों से लेकर चन्दा जमा करने, बहिष्कार करने और जुलूस में शामिल होने तक जाती है। ये नागरिक गतिविधियाँ न केवल सशक्त बनाती हैं, वे हँसी और खुशी की भावना भी पैदा कर सकती हैं जिसको लेकर मेरे ट्विटर मित्र चिन्तित हैं।

इसके कई अन्य लाभ भी हैं-- सक्रियता अपनाने वाले बच्चे टीम वर्क, योजना, रणनीति और वार्तालाप जैसे वास्तविक जीवन के सामाजिक कौशल सीखते हैं। वे नैतिक तर्क सुनते हैं और खुद भी तर्क करना सीखते हैं। और यह सब वास्तविक जिन्दगी में किया जाता है, क्योंकि कुछ कार्यों को तो सोशल मीडिया के जरिये पूरक के रूप में किया जा सकता है, लेकिन सक्रियता का काम एक दूसरे के साथ मिलकर आमने-सामने के समूहों के बीच पूरा होता है। यह सहभागिता महत्त्वपूर्ण है। इस समय, आठ साल की उम्र के बच्चे औसतन साढ़े चार घण्टे स्क्रीन पर नजर गड़ाये कुछ देखते रहते हैं और बड़े होकर ऐसे किशोर बनते हैं जो कम सामाजिक, कम सहानुभूतिपूर्ण और अधिक उदास होते हैं।

यह सही है कि सामाजिक न्याय के बारे में बातचीत करना सेक्स के बारे में बात करने जैसा ही नाजुक मसला है। हमें बातचीत में क्या शामिल करना चाहिए, और हमें क्या छोड़ना चाहिए? जब हम एक कम उम्र के व्यक्ति को समझाते हैं कि इस देश की स्थापना उन राजनीतिक कार्यकर्ताओं द्वारा की गयी थी, जिन्होंने अंग्रेजी राजा के शासन पर सवाल उठाया था, तो हमें मूल निवासी अमरीकियों और अफ्रीकियों के साथ अन्याय करने में अब और किस हद तक आगे जाना है? बातचीत में क्या विवरण शामिल किया जाये, और हमें किस हद तक उनसे हिंसात्मक बातें करना उचित है? अन्त में, यह माता-पिता के ऊपर है। लेकिन, जैसा कि सेक्स पर बातचीत के मामले में होता है, इन सीमाओं के साथ बातचीत का मतलब पूरी तरह से परिदृश्य की अनदेखी करना नहीं होता है। बच्चे हमारे बिना भी इधर-उधर से तो जानकारी प्राप्त करेंगे ही, लेकिन वह ऊटपटांग और टुकड़ों-टुकड़ों में होगा जो अधूरे या गलत होंगे।

4 जुलाई को अमरीकी आतिशबाजी और देशभक्ति के जुनून में संयुक्त राज्य अमरीका की स्थापना का जश्न मनाते हैं, आइए, हम सामाजिक न्याय और नागरिक जुड़ाव के बारे में अपने नौ साल के बच्चों को शिक्षित करने की शक्ति की कल्पना करें। यह एक जीत की स्थिति है-- यह सुनिश्चित करता है कि हमारा लोकतंत्र इन कोशिशों से बच जाएगा-- यहाँ तक कि फले-फूलेगा और इसी के साथ हमारे सभी बच्चे भी।

अनुवाद-- दिगम्बर

(यह लेख अमरीकी समाज के सन्दर्भ में है, लेकिन बड़ी आसानी से अपने देश-काल से जोड़कर इसके महत्त्व को समझा जा सकता है।)

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 37 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाये या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 37 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 4 अंकों की सहयोग राशि 150 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 2000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।

नाम : मोहित कुमार
मोबाइल नं. 8755762077
AC. No. : 30456084252
IFSC : SBIN0002292
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (एसबीआई),
एलम, शामली, उत्तर प्रदेश

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली नं. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032

हाथरस गैंगरेप की पाशविक बर्बरता को सत्ता का साथ

-- ललित कुमार

उत्तर प्रदेश के हाथरस में हुए बलात्कार और हत्या के मामले में सीबीआई ने चार्जशीट दायर कर दी है। सीबीआई ने चारों आरोपियों पर सामूहिक बलात्कार और हत्या की धाराएँ लगायी हैं। इससे उत्तर प्रदेश प्रशासन का सच दबाने और आरोपियों को बचाने का प्रयास असफल हो गया है।

14 सितम्बर की सुबह हाथरस के बूलगढ़ी गाँव में 19 साल की दलित लड़की के साथ गाँव के ही ठाकुर जाति के चार लड़कों ने सामूहिक बलात्कार और जान से मारने की कोशिश की। उस पाशविक दरिन्दगी को याद करने पर रूह काप उठती है। उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ दी गयी थी, जीभ और गले में गम्भीर चोटें आयी थीं। पीड़िता वाल्मीकि जाति से थी। वह सुबह अपने भाई और माँ के साथ खेत पर काम करने गयी थी। कुछ देर बाद भाई चारा लेकर घर आ गया, जबकि पीड़िता और उसकी माँ खेत में ही काम कर रही थीं। कुछ देर बाद जब माँ का काम से ध्यान हटा तो देखा पीड़िता गायब थी। जब उसे ढूँढा गया तो वह पास के खेत में अर्धनग्न और बेहोशी की हालत में मिली। पीड़िता का भाई और माँ उसे लेकर चन्दपा पुलिस थाने गये जहाँ रिपोर्ट दर्ज करने को लेकर पुलिस वाले ना नुकुर करने लगे। ज्यादा गम्भीर हालत देखकर साधारण रिपोर्ट दर्ज कर ली, लेकिन बलात्कार होने की बात को टाल दिया गया क्योंकि आरोपी ठाकुर जाति के दबंग थे।

परिवार के सदस्यों ने पीड़िता को जिला अस्पताल में भर्ती कराया। हालत बिगड़ने के चलते वहाँ से उसे एएमयू के अस्पताल के लिए रेफर कर दिया गया। वहाँ पीड़िता ने बयान दिया कि "मेरे साथ जबरदस्ती की गयी है।" डॉक्टरों की जो टीम पीड़िता के इलाज में लगी हुई थी, उनके अनुसार मेडिकल रिपोर्ट में पीड़िता का बयान सही साबित हुआ। उसके बाद भी उत्तर प्रदेश पुलिस रेप से इनकार करती रही और आरोपियों पर कोई गम्भीर कानूनी कार्रवाई नहीं की गयी। पीड़िता की मेडिकल टेस्ट कराने में देरी की गयी जिससे सबूतों को मिटाया जा सके।

घटना के 11 दिन बाद पीड़िता के टेस्ट सैम्पल लिये गये। फोरेंसिक रिपोर्ट में कोई सीमेन नहीं आने के बाद आला अधिकारियों ने आरोपियों को निर्दोष साबित करने की कवायद शुरू कर दी। इसमें सबसे आगे यूपी पुलिस के एडीजी प्रशान्त कुमार रहे। उन्होंने दावा किया कि "फोरेंसिक रिपोर्ट में कोई सीमेन नहीं मिला है। इसलिए लड़की के साथ कोई रेप नहीं हुआ है।" एएमयू मेडिकल कॉलेज के चीफ मेडिकल ऑफिसर अजीम मलिक ने एडीजी के बयान के विरोध में कहा कि फोरेंसिक रिपोर्ट में सीमेन न मिलने का सबसे बड़ा कारण है कि सैम्पल घटना के 11 दिन बाद लिये गये थे। जबकि सुप्रीम कोर्ट की गाइड लाइन के अनुसार सैम्पल अधिकतम 4 दिन के अन्दर लिये जाने चाहिए, तभी बलात्कार होने या न होने की पुष्टि हो सकती है। इसके आलावा सुप्रीम कोर्ट के अनुसार केवल सीमेन न मिलने के आधार पर यह तय नहीं किया जा सकता कि पीड़िता के साथ यह जघन्य अपराध नहीं हुआ है। उसके साथ जबरदस्ती और छेड़खानी करना भी बलात्कार की सीमा में ही आता है। पीड़िता की हालत में सुधार न होने के चलते उसे सफदरजंग अस्पताल में भर्ती कराया गया। वहाँ 29 सितम्बर को उसकी दर्दनाक मौत हो गयी।

उस परिवार की मनोदशा के बारे में हम शायद ही अन्दाजा लगा पायें जिनकी बेटी ने इस तरह दम तोड़ा हो। इसके बावजूद परिजनों को अपनी बेटी का मृत शरीर नहीं मिला। यूपी पुलिस से लाख मन्नतें करने के बावजूद परिवार को उसकी मृत बेटी का शरीर नहीं दिया गया। बेशर्मी और असंवेदनशीलता की सीमाओं को लाँघते हुए पुलिस ने परिजनों की गैर मौजूदगी में पीड़िता के मृत शरीर का अन्तिम संस्कार कर दिया। परिवार से अनुमति भी नहीं ली गयी, जबकि यूपी पुलिस के अधिकारी यह बयानबाजी करते रहे कि अन्तिम संस्कार परिजनों की अनुमति लेकर किया गया है। बाद में सुप्रीम कोर्ट में अपने बयान को बदलते हुए कहा कि हमने अन्तिम संस्कार कानून व्यवस्था की हालत को देखते हुए किया। कई ऐसी वीडियो वायरल हुईं जिनमें पुलिस अपने दल-बल के साथ परिजनों की अनुपस्थिति में पीड़िता का अन्तिम संस्कार करती हुई दिख रही है। आखिर योगी सरकार और उसका पुलिस महकमा इतनी हड़बड़ी में क्यों था? कोई भी सामान्य व्यक्ति इस हड़बड़ी की वजह समझ सकता है कि योगी सरकार घटना के सभी सबूतों को मिटाना चाहती थी। क्या यूपी में दलितों और दमितों को इतना भी हक नहीं कि मरने के बाद उनका अन्तिम संस्कार परिवार के लोग कर सकें?

पीड़ित परिवार को धमकाने और क्रूर आरोपियों को बचाने के लिए अभियान चलाये गये। 4 अक्टूबर रविवार के दिन बीजेपी नेता राजवीर सिंह पहलवान के घर पर आरोपियों के पक्ष में जातीय पंचायत की गयी। इस बैठक में चारों आरोपियों को बचाने की और पीड़ित परिवार के खिलाफ केस दर्ज करने की खुलेआम योजना बनायी गयी। इससे पहले भी गाँव बघाना में 10 गाँवों की दबंग जाति के लोगों द्वारा आरोपियों के पक्ष में बैठक आयोजित की जा चुकी थी।

बाराबंकी से बीजेपी नेता रंजीत श्रीवास्तव का आरोपियों के पक्ष में एक घिनौना बयान आया, जिसमें उन्होंने कहा कि "ऐसी लड़कियाँ गन्ने या बाजरे के खेत में ही क्यों मिलती हैं? गेहूँ के खेत में क्यों नहीं मिलती हैं? इसकी भी जाँच होनी चाहिए।" बलिया से बीजेपी विधायक सुरेन्द्र सिंह का भी बयान आया कि "रेप की घटनाएँ शासन की तलवार से नहीं रुक सकती हैं। बल्कि सभी माता-पिता को अपनी बेटियों को एक संस्कारी वातावरण में शालीन व्यवहार करने का तरीका सिखाना चाहिए।" बीजेपी नेता विनय कटियार ने अपने बयान में कहा कि हाथरस केस में कोई रेप नहीं हुआ है। योगी राज में कहीं कोई गड़बड़ी हो ही नहीं सकती। इन नेताओं ने खुलकर पीड़ित महिला और उसके परिजनों का चरित्र हनन किया और उनका मजाक उड़ाया। आरोपियों के पक्ष में बयानबाजी की, लेकिन बीजेपी पार्टी ने अपने इन नेताओं के खिलाफ कोई कार्रवाई न करके साफ कर दिया कि उसकी इन सब बातों में सहमति है। इससे मौजूदा सरकार और शासन कर रही पार्टी का महिला विरोधी और घोर जातिवादी चरित्र सबके सामने उजागर हो गया। फासीवादी सोच के लोग सत्ता पर काबिज हैं। जब तक ये सत्ता में रहेंगे, तब तक पीड़ित पक्ष को कभी न्याय नहीं मिल सकता।

बाद में, जेएनएमसीएच की एमएलसी रिपोर्ट के अनुसार यह बात स्पष्ट हो गयी है कि पीड़िता के साथ रेप हुआ था। उससे डीप पेनेट्रेशन और दुपट्टे से गला घोंटने के बारे में पता चला। इसके बावजूद पीड़ित परिवार को धमकाया गया। जिले के डीएम प्रवीण कुमार ने पीड़ित परिवार को धमकाते हुए कहा था कि ये मीडिया तो कुछ बाद चली जाएगी बाद में तो हमें ही यहाँ रहना है? जब रक्षक ही भक्षक बने हुए हों तो आप न्याय की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?

इस पूरे प्रकरण में योगी सरकार और उसकी पुलिस का रवैया हमेशा आरोपियों को बचाने का रहा क्योंकि आरोपी ऊँची जाति से सम्बन्ध रखते हैं, जिनका सरकार और प्रशासन में दबदबा है। ऐसे समाज और राज मशीनरी में जनतांत्रिक मूल्यों की कोई जगह नहीं होती, जहाँ ऊँची जाति के लोग दलित बेटियों के साथ रेप करना अपना जन्मजात अधिकार मानते हैं। रेप का विरोध करने पर उनकी जीभ काट दी जाती है या रीढ़ की हड्डी तोड़ दी जाती है। ऐसे मामलों में इस देश की त्रासदी ही है कि इन्साफ पसन्द लोग भी अपने जातिवादी पूर्वाग्रहों के चलते चुप बैठ जाते हैं, जबकि उन्हें इस तरह के जघन्य अपराधों के खिलाफ एकजुटता दिखाने के लिए आगे आना चाहिए।

दलितों के साथ भयावह उत्पीड़न की मुख्य वजह उनकी कमजोर आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक हैसियत है। जमीनों के मालिक ज्यादातर सवर्ण और पिछड़े वर्ग की दबंग जातियों के लोग हैं। उत्पादन के अन्य साधनों के मालिक भी वे ही हैं। दलित जाति के लोग इन्हीं ऊँची जाति के लोगों के खेतों और उनके घरों में मजदूरी का काम करके गुजर-बसर करते हैं। उनकी राजनीतिक पहुँच भी नहीं होती। गाँव के प्रधान, क्षेत्रीय नेता, आला अधिकारी और पुलिस-दारोगा भी अमूमन इन्हीं ऊँची जातियों के होते हैं। इसी के चलते इन जातियों के लम्पट तत्व दलित बेटियों को अपना शिकार बनाकर आसानी से कानून से बच जाते हैं। दलित बेटियों को आये दिन ही ऊँची जातियों के लम्पट तत्वों द्वारा सताया जाता है। वे उनका रास्ता रोक लेते हैं, खेत या जंगल के रास्ते पर उनके साथ छेड़छाड़ करते हैं, उनके रंग-रूप और अंगों को लेकर भद्दी गाली देते हैं और उनके साथ अश्लील मजाक करते हैं। कई घटनाएँ तो ऐसी होती हैं जिनमें दलित महिला के साथ बदसलूकी उसके भाई, पति या परिवार के अन्य सदस्य के सामने ही की जाती है, फिर भी दलित परिवारों को मजबूरन चुप्पी साधनी पड़ती है। अगर कोई परिवार आवाज उठाता है तो उसके साथ मारपीट और अमानवीय व्यवहार किया जाता है और उन्हें मजदूरी पर काम नहीं दिया जाता है।

क्षेत्रीय पुलिस थानों में गरीब दलित-पीड़ित की रिपोर्ट आसानी से दर्ज नहीं की जाती। बल्कि कई बार तो उलटा उसे ही बन्धक बनाकर पीटा जाता है। जिले के आला अधिकारी भी अपनी जातिवादी मानसिकता के चलते मामले को टालने की कोशिश करते हैं। अगर जैसे-तैसे कोई केस मीडिया में आ जाता है तो मजबूरन केस दर्ज करना पड़ता है। उसके बाद केस को झूठा साबित करने की कोशिश की जाती है। बड़े अधिकारी अपनी ईमानदारी और इनसानियत को ताक पर रखकर पीड़ित के बयानों को बदलने के लिए बलपूर्वक प्रयास करते हैं। कितनी ही सरकारें आयीं और गयीं, लेकिन यहाँ की परिस्थितियों में कोई खास अन्तर नहीं आया। योगी राज में दबंगों का हौसला इतना बुलन्द है कि वे कोई भी जुर्म करने से नहीं डरते। बल्कि शासक पार्टी के नेता आरोपियों के पक्ष में राष्ट्रीय प्रतीकों और नारों के साथ रैलियों का आयोजन करते हैं। सरकार सब देखती है और ऐसे नेताओं के खिलाफ कोई करवाई नहीं की जाती। जो लोग पीड़ित परिवार की तरफ से न्याय की माँग करते हैं या उनके दुःख में हमराही बनते हैं, उन्हीं को योगी सरकार उग्रवादी और देशद्रोही बताकर जेल में बन्द कर प्रताड़ित करती है, जैसा कि इस मामले का विरोध करने वालों के साथ भी किया गया। दुनिया के सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश कहे जाने वाले भारत के लिए इससे शर्मनाक भला और क्या हो सकता है।

केन सारो-वीवा : संघर्ष और बलिदान गाथा

-- आशु वर्मा

रंगभेद और उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ने वाले दक्षिण अफ्रीका और अफ्रीकी महाद्वीप के नेता, नेल्सन मण्डेला जेल से रिहा होने के बाद पहली बार 1995 में न्यूजीलैण्ड के ऑकलैण्ड शहर में राष्ट्रमण्डल देशों के सम्मेलन को सम्बोधित कर रहे थे। ठीक उसी समय अफ्रीका के ही सुदूर-पश्चिम के प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर छोटे से देश नाईजीरिया में एक जन नायक को उसके साथियों समेत फाँसी पर लटकाया जा रहा था। उस नायक का नाम था केन सारो-वीवा।

यदि किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा किसी देश की प्रकृति, पर्यावरण, अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज को तबाह करने का पर्याय 'शेल' नामक कम्पनी है तो किसी देश को बर्बाद करती बहुराष्ट्रीय कम्पनी के खिलाफ जनता को साथ लेकर, उसे प्रशिक्षित और संगठित कर, एक अनवरत, अनथक संघर्ष चलाने वाले महानायक का पर्याय है-- केन सारो-वीवा! केन सारो-वीवा जिन्होंने कहा था "न तो कभी डरो और न कभी निराशा की चपेट में आओ।"

कुख्यात 'शेल' कम्पनी के खिलाफ नाईजीरिया के नाईजार डेल्टा के अगोनी क्षेत्र के लोगों को साथ लेकर चलाये गये संघर्ष की गाथा है पुस्तक *'केन सारो-वीवा संघर्ष और बलिदान की गाथा'* जिसे लिखा है अफ्रीकी साहित्य, राजनीति और उस महाद्वीप के मुक्ति संघर्षों के विशेषज्ञ, जानेमाने जनपक्षधर लेखक आनन्द स्वरूप वर्मा ने। उन्होंने हिन्दी पाठकों तक पहली बार केन सारो-वीवा के जीवन संघर्ष को जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है।

केन सारो-वीवा के संघर्षों और बलिदान के बारे में गहराई से जानने के लिए आनन्द स्वरूव वर्मा स्वयं नाईजीरिया गये और उनके साथियों, उनके बनाये संगठनों के सदस्यों के साथ ही उनके सौ वर्षीय पिता से भी मिले। इस यात्रा के कारण ही यह पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक, विश्वसनीय और रोचक बन पड़ी है। यह पुस्तक समकालीन इतिहास की महत्त्वपूर्ण बातों को उजागर करती है। यह नेलसन मंडेला को कटघरे में खड़ा करती है। वह नेलसन मंडेला की रिहाई के बाद उनमें आये वैचारिक बदलाव और महाशक्तियों के प्रति झुकाव की ओर इशारा करती है। यह बताती है कि केन सारो-वीवा की रिहाई के लिए नेलसन मंडेला अन्तरराष्ट्रीय मंच पर जितना दबाव डाल सकते थे, जितना प्रयास कर सकते थे, उतना उन्होंने नहीं किया।

'शेल' जैसी दैत्याकार बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनी जो 28 देशों से तेल निकालने का काम करती है, उसके खिलाफ केन सारो-वीवा के संघर्ष को इस पुस्तक के लेखक ने अत्यन्त प्रेरक, दिलचस्प और ओजपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया है। वास्तव में आँखों के सामने आगोनी क्षेत्र की प्रकृति, यहाँ के लोग, समाज 'शेल' कम्पनी द्वारा वहाँ के तेल की लूट और लोगों पर थोपी गयी विपदा और मौत, उपनिवेशवाद के कारण वहाँ के दबे-कुचले लोग और फिर उन्हीं लोगों को संघर्ष और अन्तिम लड़ाई के लिए तैयार करते केन सारो-वीवा की जिन्दगी पुस्तक में आँखों के सामने फिल्म की तरह चलती है।

केन सारो-वीवा नाईजीरिया में बोरा गाँव के खाना जनजाति में 10 अक्तूबर 1941 को पैदा हुए थे। कबीले के अत्यन्त सम्पन्न सरदार के घर से होने के चलते उन्हें इबादान विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा पाने में कोई कठिनाई नहीं आयी। वे अच्छे लेखक थे और 1985-86 के बीच उन्हें *'सांग्स इन ए टाइम ऑफ वार'*, *'सोजाब्वॉय'*, *'ए फोरेस्ट ऑफ फ्लावर्स'* *'ऑन ए डार्कलिंग प्लेन'* जैसी बेहतरीन किताबें लिखीं। कुछ समय उन्होंने 'खिर्स स्टेट गवर्नमेण्ट' के सिविल कमिश्नर के पद पर भी काम किया। पर अपनी प्रखर बुद्धि, जनपक्षधरता और नाईजीरियाई समाज, इतिहास और राजनीति पर अच्छी पकड़ के कारण वे समझ गये कि सरकारी तन्त्र में रह कर उन्हें भ्रष्ट और तानाशाह सरकार के लिए काम करना पड़ेगा और उन्होंने इस्तीफा दे दिया।

केन सारो-वीवा ने अपनी आँखों के सामने बचपन में निर्मल और स्वच्छ जल से भरी, असंख्य मछलियों और जल जीवों से भरीपूरी, आसपास की प्राकृति और गाँवों को सींचती अगोनी की जीवन-रेखा नाईजर नदी को देखा था। इन सब को वे ब्रिटिश बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनी के द्वारा बर्बाद होते, मरते हुए देख रहे थे। उनकी आँखों के सामने हरे-भरे डेल्टा क्षेत्र में 1958 में 'शेल' के द्वारा असंख्य तेल के कुएँ खोदे गये जिनसे निकलने वाले पाईपों से रिश्ते तेल ने पूरे इलाके के पर्यावरण में घुलते जहर को महसूस किया। हजारों बच्चों, महिलाओं और जवानों को असाध्य बीमारियों की चपेट में लाते और 30 सालों के बीच लगभग अरबों डॉलर की लूट होते देखी। आनन्द स्वरूप वर्मा लिखते हैं कि केन सारो-वीवा ने तीसरी दुनिया के नवस्वतन्त्र देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों, भ्रष्ट और तानाशाह सरकारों और उनकी मदद करती सेना के गठजोड़

तथा सैनिक तख्ता पलट, हत्या और हिंसा की बर्बर राजनीति को बहुत अच्छी तरह समझ लिया था। वे अपनी जनता में व्याप्त गहरी निराशा और पस्तहिम्मती को देख रहे थे तो दूसरी ओर अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी को भी बखूबी समझ रहे थे। केन सारो-वीवा के शब्दों में, "...शायद मेरे कन्धों पर यह जिम्मेदारी आ पड़ी थी कि मैं उन्हें 100 वर्षों की नींद से जगाऊँ और मैंने इस जिम्मेदारी को पूरी तरह कबूल कर लिया था...।" हालात की गम्भीरता और अपनी नैतिक जिम्मेदारी को ठीक से समझने और 'शेल' के खिलाफ मोर्चा खोलने का जब एक बार उन्होंने निश्चय कर लिया तो उसके बाद कभी वे पीछे नहीं हटे। "शेल" के खिलाफ संघर्ष की गम्भीरता और खतरे को वे अच्छी तरह समझते थे, इसीलिए अपने संघर्ष में उन्होंने हर सम्भव तरीके अपनाये। "शेल" की कारगुजारियों को आम जनता तक पहुँचाने और उसे जागृत करने के लिए अखबारों में नियमित स्तम्भ लिखे। जब उनके एक पुलिस मित्र ने सम्भावित खतरों के बारे में उन्हें आगाह किया तब बड़े इत्मिनान से उन्होंने यह जवाब दिया, "मैं जो कुछ लिखता हूँ बहुत सोच-समझकर लिखता हूँ और उसकी सारी जिम्मेदारी भी लेता हूँ। अब इस लेखन का जो भी नतीजा मुझे भुगतना पड़े, मैं स्वीकार करूँगा।" केन सारो-वीवा ने उस अधिकारी से कहा, "अगर कोई लेखक अपने लेखन की वजह से गिरफ्तार होता है तो उसे और ताकत मिलती है।" केन सारो-वीवा में यह आत्मविश्वास और हिम्मत अपने लक्ष्य और काम की स्पष्टता, जनता तथा उसकी जीत में अटूट विश्वास के कारण ही आयी और यही उनकी ताकत थी।

केन सारो-वीवा नाईजीरियाई समाज के बदलाव में लेखकों की भूमिका और उनके महत्त्व को बहुत अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने कहा था, "...मेरा शुरू से मानना था कि नाईजीरिया में जो नाजुक हालात हैं उसमें साहित्य को राजनीति से अलग नहीं रखा जा सकता।...लेखकों को केवल अपने को या दूसरे को आनन्दित करने के लिए नहीं बल्कि समाज को ढंग से देखने के लिए लेखन करना चाहिए।... उसे जन संगठनों में भाग लेना चाहिए। उसे जनता के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।" वे कहते हैं कि "शब्दों में बहुत ताकत होती है और जब उन्हें आम बोलचाल की भाषा में व्यक्त किया जाता है तो इनकी ताकत और बढ़ जाती है...।" इसीलिए जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए उन्होंने लगातार अखबारों और पत्रिकाओं में लिखा और अनेक किताबें भी लिखीं। जब सरकार और "शेल" विरोधी उनकी बातों के कारण छपवाना मुश्किल होने लगा तब उन्होंने अपना प्रकाशन भी शुरु किया। फिर उन्होंने टीवी के लिए 'बसी एण्ड कम्पनी' जैसे धारावाहिक भी लिखे और अनेक कार्यक्रमों के प्रोड्यूसर भी बने।

यही नहीं, वे अपनी बातों को सड़कों और नुक्कड़ों तक ले गये। उन्होंने कहा था, "जब मैंने तय किया कि अपनी बातों को सड़कों और नुक्कड़ों तक ले जाऊँ, अगोनी की जनता को गोलबन्द करूँ और उन्हें इस हद तक शक्ति-सम्पन्न करूँ कि वे "शेल" द्वारा अपने पर्यावरण के विनाश के खिलाफ आवाज उठा सकें और नाईजीरिया के सैनिक तानाशाहों द्वारा अपनी जिन्दगी बदहाल बनाये जाने का प्रतिरोध कर सकें, उस समय ही यह बात मेरी समझ में आ गयी थी कि इसका अन्त मेरी मौत के रूप में होगा।"

उन्होंने यह भी समझा कि इस समस्या को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उठाना जरूरी है। अगोनी के तेल की बेहिसाब लूट और पर्यावरण के महाविनाश की कहानी दुनिया के तमाम हिस्सों में पहुँचाने और उस पर अन्तरराष्ट्रीय दबाव बनाने के उद्देश्य से उन्होंने ब्रिटेन, अमरीका, जर्मनी, रूस, संयुक्त राष्ट्र संघ इत्यादि की अनगिनत यात्राएँ की, दर्जनों अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से "शेल" कम्पनी के कामों का पर्दाफाश किया। वे विश्व के तमाम जन पक्षधर नेताओं, वैज्ञानिकों, वकीलों, प्रोफेसरों, बिजनेसमैन, कलाकारों से लगातार मिलते रहे और "शेल" के विरोध में अन्तरराष्ट्रीय जनमत भी तैयार करते रहे। वे बीबीसी तक भी अपनी पूरी बात पहुँचाने में सफल रहे जिसका नतीजा यह हुआ कि बीबीसी के लोकप्रिय चैनल 4 ने अगोनी में "शेल" द्वारा हुए महाविनाश पर एक डॉक्युमेण्टरी 'द हीट ऑफ द मोमेन्ट' बनायी। इस डॉक्युमेण्टरी की ताकत और प्रभाव का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि "शेल" ने अपनी शर्त में इस पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की।

आनन्द स्वरूप वर्मा की किताब केन सारो-वीवा के काम करने के तरीके पर विस्तृत प्रकाश डालती है और यह बताती है कि दैत्याकार बहुराष्ट्रीय निगमों, भ्रष्ट सरकारों और सेना से टकराने से पूर्व अपनी समझदारी की धार तेज करना, लक्ष्य की व्यापकता की पूर्ण स्पष्टता और साहस कितना जरूरी है। वे लिखते हैं कि सारो-वीवा की लड़ाई सिर्फ अगोनी क्षेत्र के लिए नहीं थी। वे अगोनी की लड़ाई को एक मॉडल बनाना चाहते थे। वास्तव में उनका संघर्ष एक क्षेत्रीय समस्या के अन्तरराष्ट्रीयकरण का अद्भुत उदाहरण है।

केन सारो-वीवा बेहद अमीर परिवार से थे और इतने प्रभावशाली भी कि दुनिया के किसी देश में आराम से रह सकते थे। लेकिन उनमें अपने इलाके और वहाँ की उत्पीड़ित जनता के प्रति ऐसा सच्चा सरोकार, संवेदना और प्यार था कि उन्होंने संघर्ष का रास्ता चुना। पर्यावरण और संसाधनों पर वहाँ की जनता के मालिकाने की उन्हें इतनी स्पष्ट समझदारी थी कि उनके द्वारा लिखा गया 'अगोनी बिल ऑफ राइट्स' हर सामाजिक और पर्यावरण कार्यकर्ता को पढ़ना चाहिए।

जब उन्होंने संघर्ष को संगठित करने के लिए 'मोसोप' नामक संगठन बनाया तब सामाजिक कार्यों में धन-पैसे के खतरे और ईमानदारी के महत्त्व को समझते हुए उन्होंने लिखा, "यह भी जरूरी

था कि सीमित वित्तीय सुरक्षा के प्रयास में मुझे अपनी ईमानदारी बनाये रखनी होगी और आम नाईजीरियाई की तरह ऐसे धन्धे में नहीं लगना होगा जिसमें मैं किसी से आँखें न मिला सकूँ।"

एक दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनी के खिलाफ संघर्ष के वे अकेले नायक नहीं बनना चाहते थे। इस संघर्ष में वे एक संगठन और उसके सदस्यों के महत्त्व को वे बखूबी समझते थे। इतना ही नहीं वे जानते थे कि यह संघर्ष अगली पीढ़ी को भी चलाना पड़ेगा और इसलिए उन्होंने नयी पीढ़ी को संघर्ष के लिए वैचारिक रूप से तैयार और प्रशिक्षित किया। उन्होंने कहा, "आज जरूरत है कि जो हमारी पीढ़ी द्वारा छोड़े गये काम को आगे बढ़ाने के लिए खुद को तैयार करे। इसलिए मैं अगोनी के नौजवानों का आह्वान करता हूँ कि वे अपने अध्ययन, सामुदायिक विकास में अपनी भागीदारी, नाईजीरिया में अपनी निष्ठापूर्वक दिलचस्पी के जरिये नेतृत्व की बागडोर सम्भालनें के लिए तैयार हो जायें।"

उनके और जनता के संघर्ष का परिणाम था कि "शेल" को अगोनी क्षेत्र में तेल निकालने का काम बन्द करना पड़ा। उनके प्रयासों से ही "शेल" की लूट और पर्यावरण विनाश पर अनेक रिपोर्ट छपी और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उसका पर्दाफाश हुआ। उनके संघर्षों का परिणाम यह हुआ कि शेल, नाईजीरिया की तानाशाह सरकारें और सेना उनसे मुक्ति पाने का तरीका ढूँढने लगी। अन्ततः उन्होंने चार अगोनी नेताओं की हत्या के झूठे आरोप में केन सारो-वीवा को 22 मई 1994 को गिरफ्तार कर लिया और सेना के ट्रिब्यूनल द्वारा उनके साथियों समेत उन्हें 10 नवम्बर 1995 को फाँसी पर लटका दिया। मरणोपरान्त उनका नाम नॉबेल शान्ति पुरुस्कार के लिए भी नामित हुआ। अपने अन्त का उन्हें पता था। बहुत पहले ही नाईजीरियाई लेखकों ने कहा था कि "केन सारो-वीवा अपनी मौत अपनी जेब में लेकर घूमते थे।"

इस पुस्तक को पढ़ कर ऐसा लगता है कि केन सारो-वीवा सिर्फ नाईजीरिया के अगोनी क्षेत्र के लोगों के नेता नहीं थे। वास्तव में वे उत्तरऔपनिवेशिक युग में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उत्पीड़ित तीसरी दुनिया के सभी संघर्षशील समुदायों के लिए एक आदर्श और प्रेरणा स्रोत थे। वास्तव में वे अपनी धरती, अपने समाज, अपने लोगों से बेपनाह मोहब्बत करने वाले एक ऐसे जन नायक थे जो अपने लोगों और लक्ष्य के लिए कुर्बान होना जानते थे।

आज उनके जीवन संघर्ष को जानने समझने और उनसे प्रेरणा लेने की जरूरत सबसे ज्यादा है, क्योंकि भारत में उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, तटीय इलाकों से लेकर इण्डोनेशिया, न्यू गिनी और अमेजन वर्षा वनों तक को बहुराष्ट्रीय निगमें, सरकारें और यहाँ तक कि न्यायपालिका मिलकर संसाधनों को लूटने और पर्यावरण का विनाश करने पर आमादा हैं। भारत समेत दुनिया के तमाम देशों की जनता को इस अन्याय के खिलाफ संघर्ष में केन सारो-वीवा की जिन्दगी और काम करने के तौर-तरीके से सीखना चाहिए। वास्तव में आनन्द स्वरूप वर्मा ने यह पुस्तक लिखकर जनता और मानवता की अनुपम सहायता की है और केन सारो-वीवा ने जैसा कि जेल से मृत्यु के पहले अपने खत में लिखा था कि अन्याय के खिलाफ उनसे जो कुछ सम्भव हुआ, उन्होंने किया। वे अगोनी लोककथाओं में जिन्दा रहेंगे। केन सारो-वीवा अगोनी ही नहीं पर्यावरण और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लूट के खिलाफ लड़ती हर देश की जनता के लिए प्रकाश स्तम्भ बन चुके हैं।

मौजूदा किसान संघर्ष का स्वरूप

जनता के सभी मौजूदा संघर्षों की तरह ही किसानों के संघर्ष का स्वरूप प्रतिरोधात्मक है, क्योंकि यह 1990 के बाद एक-एक कर छीने जा रहे उनके अधिकारों को बचाये रखने का संघर्ष है। इस हिसाब से मौजूदा किसान आन्दोलन प्रतिरोध की सबसे बड़ी और निर्णायक लड़ाई बनकर सामने आया है। इस पूरे दौर में तीनों कृषि कानून, मजदूर वर्ग के श्रम कानून, जनता की सामाजिक सुरक्षा और उसके लोकतांत्रिक अधिकार पर एक से बढ़कर एक हमले किये गये। इसलिए किसान आन्दोलन आगे के संघर्षों की भूमिका भी तय करेगा।

जनता के प्रतिरोध को तोड़ने के लिए उसके एक हिस्से को दूसरे के खिलाफ खड़ा करने में सरकारें पूरी धूर्तता के साथ "बाँटों और राज करो" की अंग्रेज परस्त नीति अपनाती रहीं। इसके चलते जनता की एकता खत्म हो गयी और वह एक-एक कर लड़ाई को हारती चली गयी। इससे फैली निराशा ने उसके लड़ने के हौसले को पस्त कर दिया।

अगर यह आन्दोलन देश की व्यापक जनता को एकजुट करने में कामयाब रहा और प्रतिरोध को व्यापक स्तर पर संगठित कर पाया तो यह सबसे बड़ी जीत होगी। तीनों कानून को वापस लिए जाने से भी बड़ी जीत जनता की एकता बढ़ने और उसकी पस्तहिम्मती के दूर होने में है। इससे इंसानियत में विश्वास पैदा होगा। न्याय की ताकतें मजबूत होंगी।

जनता के सामने एक मिसाल की तरह यह आन्दोलन खड़ा होगा और जनसंघर्षों के लिए प्रेरणा का काम करेगा। इस लड़ाई की सकारात्मक उपलब्धियों को लेकर जनता प्रतिरोध की लड़ाई से आगे बढ़ते हुए अपनी जिंदगी को बेहतर बनाने और एक अच्छे समाज के निर्माण के लिए संघर्ष कर सकेगी।

रामवृक्ष बेनीपुरी का बाल साहित्य : मनुष्य की अपराजेय शक्ति में आस्था

-- सुधीर सुमन

बेनीपुरी की लेखनी को जादू की छड़ी कहा जाता रहा है। अपने प्रवाहपूर्ण लालित्य से युक्त गद्यशिल्प के कारण वे हिन्दी साहित्य में बेहद चर्चित रहे। लेकिन अपने अद्भुत शिल्प के साथ ही अपने साहित्य के वैचारिक उद्देश्य के कारण भी वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलायी। खासतौर पर उनके यात्रा संस्मरण, वैचारिक ललित निबन्ध, रेखाचित्र और कहानियों से हिन्दी का आम पाठक परिचित है। लेकिन शायद यह कम लोगों को ही पता है कि बेनीपुरी ने अपने दौर के बच्चों के लिए अत्यन्त मूल्यवान साहित्य का सृजन किया। बेनीपुरी ग्रन्थावली के सम्पादक सुरेश शर्मा ने लिखा है कि रविन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर किसी भी दूसरे भारतीय लेखक के बाल साहित्य में बेनीपुरी जितनी विविधता नहीं है। विविधता के साथ ही इन्साफ, बराबरी आजादी और मनुष्यता के लिए विकास की जो प्रतिबद्धता है वह बेनीपुरी के बाल साहित्य को भारतीय बाल-साहित्य में विशिष्ट दर्जा प्रदान करती है। काश! अगर समाजवादी-क्रान्तिकारी वैचारिक पृष्ठभूमि के दूसरे साहित्यकारों ने भी इसी तरह सुनियोजित तरीके से बाल साहित्य की रचना की होती तो हिन्दी बाल साहित्य और भी समृद्ध होता।

1925 में प्रकाशित बेनीपुरी जी का लघु बाल-उपन्यास 'बगुला भगत' प्रकाशन वर्ष की दृष्टी से उनकी पहली रचना है। इसमें बगुले और मछलियों की लोकप्रचलित कहानी को बिल्कुल नये युगीन सन्दर्भों में रोचक ढंग से रचा गया है। इसकी लोकप्रियता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि 1928 और 1937 में इसके दूसरे और तीसरे संस्करण भी छापने पड़े थे। हितोपदेश और पंचतंत्र शैली की कहानियों की तरह इसमें महज नीतिगत निष्कर्ष और मनोरंजन नहीं है। इसमें मछलियों की कई किस्मों की तो जानकारी है ही, मानवीय समाज में हो रहे बदलावों और राजनैतिक जागृति की स्पष्ट छाया भी है। आज इसे पढ़ते हुए हमें प्रेमचन्द की कहानी 'दो बैलों की कथा' की भी याद आ सकती है, जिसमें अपने दौर का राजनैतिक संघर्ष प्रतीकात्मक तौर पर मौजूद है। होता यह कि बगुले से मुक्ति के लिए जलचर एक महासम्मेलन करते हैं। दिलचस्प यह कि इसके पीछे एक नन्हीं पोठिया का दिमाग काम करता है। वह केकड़े को संघर्ष के लिए राजी करती है। फिर तो जब बगुला मछलियों का शिकार करने आता है, तो वह केकड़े के शिकंजे में फँस जाता है। केकड़ा बगुला भगत और उसकी पत्नी भगतिन की चोंच को कुतरने के साथ उनके अण्डों को भी खत्म कर देता है। मगर अन्त यहाँ नहीं होता। दूसरों की जिन्दगियों को नष्ट करने वाले बगुला भगतों के समूल नाश की चेतना के साथ कथा आगे बढ़ती है। भूख और कष्ट से बगुला भगत की पत्नी को अपनी जान गँवानी पड़ती है। बगुला भगत वैरागी होकर देश-भ्रमण और तीर्थ यात्राओं पर निकल पड़ते हैं। बगुला भगत के साथ-साथ बाल पाठक भी देश के विभिन्न दर्शनीय स्थलों का दर्शन करते हैं, रीति-रिवाजों से अवगत होते हैं। मगर जब बगुला भगत मानसरोवर पहुँचते हैं, तो उनका वैरागी मन डोल जाता है। ढेर सारी मछलियाँ देखकर उनकी लार टपकने लगती है। कटे हुए चोंच के जरिये वे तपस्वी हंस होने का स्वांग रचते हैं और भोले-भाले हंस उनके मायाजाल में फँस जाते हैं। लेकिन सच आखिर कब तक छुपता है! एक दिन मछली भकोसते बगुला भगत पकड़े जाते हैं और हंस उनकी जान ले लेते हैं। जनसेवक का मुखौटा लगाये शोषकों और अत्याचारियों का प्रतिनिधि लगता है बगुला भगत। जिस तरह लूशुन ने पुरानी लोककथाओं को नये रूप में पेश किया है, बेनीपुरी का यह उपन्यास भी एक पुरानी कथा को समसामयिक बना देता है।

1925 में ही प्रकाशित बेनीपुरी की लम्बी कहानी 'सियार पाँड़े' को भी पाठकों ने हाथों-हाथ लिया। यह सियार पाँड़े की जिन्दगी की कथा है, जिसमें सियार के बारे में प्रचलित कहावतों और लोककथाओं का भी इस्तेमाल किया गया है, लेकिन सन्दर्भ कुछ बदले-बदले से हैं। इस कहानी में सियार अपनी बुद्धिमानी से बाघ, हाथी, बिल्ली और बन्दर को मजा चखाता है। अपनी बुद्धि के बल पर शेर का विश्वासपात्र मन्त्री बन जाता है। अपने अपमान को सम्मान के किस्सों तथा हार की घटनाओं को जीत के तौर पर प्रचारित करने में वह माहिर है। वह दिखाता है कि जंगल में जहाँ एक से एक खतरनाक जानवर हैं, वहाँ कैसे एक मामूली सा कमजोर प्राणी सियार अपनी हिम्मत और चतुराई के बल पर ही जीवित रह सकता है।

'बिलाई मौसी' बच्चों के लिए लिखी गयी बेनीपुरी जी की

तीसरी किताब है। बेनीपुरी की जादुई लेखनी से इसमें संग्रहित लोकप्रचलित कहानियों का अभाव और भी बढ़ गया है। इसी तरह 1948-50 में प्रकाशित 'संसार की मनोरम कहानियाँ' में देशी-विदेशी पृष्ठभूमि की ऐतिहासिक और लोकप्रचलित कहानियों को जगह दी गयी है। इनमें स्वप्न-वासवदत्ता, लैला-मजनू की प्रेम कहानियों के साथ चीनी और जापानी लोककथाओं पर आधारित कथाएँ शामिल हैं। ये प्रेम, त्याग, साहस और आदर्श की ऐसी विरासत हैं, जिन्हें लेखक भविष्य की पीढ़ी को सौंपने की कोशिश करता है। 'अमृत की वर्षा' कहानी में जीमूतवाहन सोचता है कि मनुष्य एक दिन इतना ऊँचा उठ जाएगा कि न कोई राजा होगा, न कोई प्रजा। कोई किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करेगा। सभी शान्ति से सुख से रहेंगे। जीमूतवाहन गरुड़ से नागों को बचाने के लिए अपना बलिदान दे देता है।

बेनीपुरी की खासियत यह है कि उन्होंने न केवल अपने देश की गौरवशाली घटनाओं और शख्सियतों से बच्चों को परिचित करावाया, बल्कि पूरी दुनिया में जो श्रेष्ठ है और उत्प्रेरक है उसे भी उन तक पहुँचाया। उदाहरण के लिए बड़ी उम्र के बच्चों के लिए लिखी गयी विक्टर ह्यूगो, टॉलस्टाय, जार्ज इबर, सर्वेंतिस, शेक्सपियर, होमर, चौसर, मेटर लिंक की रचनाओं पर आधारित किताब 'फूलों का गुच्छा' देखा जा सकता है। इसमें डान क्विकजोट, मर्चेण्ट ऑफ वेनिस, रिसरेक्शन, राबिंसन क्रूजो, ला-मिजरेबुल जैसी विश्वप्रसिद्ध रचनाएँ कानून, नैतिकता, दोस्ती, शोषण और मानवीय मूल्यों के जटिल संसार से साक्षात्कार करवाती हैं।

बेनीपुरी साहित्य के इतिहास के साथ-साथ दुनिया के महानतम लोगों से भी बच्चों को परिचित कराते हैं। 'हमारे पुरखे, हमारे पड़ोसी' के पहले खण्ड में उन्होंने चन्द्रगुप्त चाणक्य, अशोक, पृथ्वीराज, राणा प्रताप, अकबर, भामा शाह, शिवाजी, क्लाइव, बाबू कुँवर सिंह, दादा भाई नौरोजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों से नन्हें पाठकों का परिचय कराया है। इसके दूसरे खण्ड में गैरीबल्डी, विस्मार्क, पीटर, जोन आर्क, जार्ज वाशिंगटन, नेपोलियन, लिंकन, सन-यात-सेन तथा कमाल पाशा जैसे दुनिया के इतिहास निर्माताओं की जीवनी दी है। बेनीपुरी अतीत के भारत की गौरवशाली तस्वीर को भी सामने लाते हैं, ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों, विचारकों तथा भारतीय आदर्शों को बड़े फख्र से याद करते हैं, लेकिन पाठकों को उसी में खोये नहीं रहने देते। वे यह भी कहते हैं कि 'हमें सभी क्षेत्रों में उन्नति और विकास करना है, क्योंकि इसके बिना हम संसार में सर ऊँचा करके नहीं रह सकते।' बेनीपुरी जी को मनुष्य की अपराजय शक्ति में आस्था है। इसलिए 'जान हथेली पर' रखकर 'पृथ्वी पर विजय' और 'प्रकृति पर विजय' हासिल करने वाले साहस के पुतले उन्हें आकर्षित करते हैं। उनका आग्रह है कि देश के नौनिहाल उसी पद-चिन्ह पर चलें। ये सब उनकी किताबों के नाम हैं। इनमें कई तरह के अन्वेषकों और खोजियों की कहानियाँ हैं। मानवीय साहस, आदर्श, संवेदनशीलता और कुर्बानियों की उत्प्रेरक दास्तान हैं।

इन किताबों के मकसद को स्पष्ट करते हुए बेनीपुरी ने 1938 में प्रकाशित 'पदचिन्ह' में लिखा है-- "मेरे छोटे-छोटे साथियों, कहीं तुम भटक न जाओ, कुराह पर न चले जाओ, इसलिए ये पदचिन्ह तुम्हारे आगे रखता हूँ। तुम जो भी बनना चाहो-- साहसी, देशभक्त, वैज्ञानिक, मानव हितैषी-- इनमें से किसी पदचिन्ह को पकड़ लो और बढ़ते चलो। मुझे उम्मीद है, यह तुम्हें सफलता तक पहुँचा देगा।" यहाँ बेनीपुरी में हमें आधुनिक चेतना साफ तौर पर दिखाई देती है। इसी चेतना को उनके निबन्ध 'स्कूलों की दुनिया' में भी देखा जा सकता है। उन्होनें लिखा है-- "अब तो लड़के चाव से स्कूल जाने लगे हैं। इसका कारण है, 'लड़कों को किसी हाल में नहीं पीटना चाहिए, इस सिद्धान्त को लोग समझने लगे हैं।"

'भारत की खोज में' शीर्षक लेख उनकी पुस्तक 'पद-चिन्ह' का पहला लेख है, जिसमें भारत की खोज में निकले साहसी लोगों का वर्णन है। लेख के आखिर में बेनीपुरी सवाल करते हैं कि 'क्या हमारा देश कभी ऐसा हो सकता है? क्या हमारे देश में मार्को पोलो, कोलम्बस, वास्को-डी-गामा और मैगलन ऐसे साहस के पुतले हो सकेंगे?' आधुनिक यूरोप बेनीपुरी के लिए एक चुनौती की तरह है। यूरोपीय सभ्यता का विकास, स्वतंत्रता-संग्राम और लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए होने वाले संघर्ष तथा दर्शन, चिकित्साशास्त्र, अर्थनीति और राजनीति का कल्याणकारी रूप उन्हें अपनी ओर खींचते हैं। भौगोलिक खोजों, वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ ऊँचे दर्जे के यूरोपीय साहित्य से भी वे प्रभावित दिखते हैं। मगर इनसे सिर्फ परिचय कराना ही उनका मकसद नहीं है, बल्कि इसे वे एक पैमाना बनाकर भी पेश करते हैं। 'जीवन त्राता' नामक लेख में धन्वन्तरी, चरक और सुश्रुत का जिक्र करते हुए वे आधुनिक चिकित्सीय अनुसन्धान में जीवन लगा देने वाले लुईस पाश्चर, जोसेफ लिस्ट, डॉ रोबर्ट कोच, कैरल आदि तक पहुँचते हैं। 'पदचिन्ह' में ही बेनीपुरी का एक लेख 'मानव कल्याण की ओर' है। इसमें रूसो, बेंथम, एडम स्मिथ, क्रोपाटिकन, बाकुनिन से लेकर कार्ल मार्क्स के युगान्तकारी विचारों की चर्चा है। रूसो के बारे में बेनीपुरी ने लिखा है-- "रूसो गरीबों के लिए प्रकाश देवदूत था। उसने वह संसार देखा था, जहाँ आदमी कराहता रहता, स्त्रियाँ बेइज्जत होतीं, बच्चे भूख, जाड़ा और मूर्खता के शिकार होते और जहाँ इस परिस्थिति को बदलने की चेष्टा करने वाले नाना तरह के कष्ट भोगते हैं। रूसो ने इसके खिलाफ आवाज उठायी और उसने उन सभी चीजों पर प्रहार किया, जिनके चलते यह स्थिति है।" इसमें कोई दो राय नहीं कि बेनीपुरी अपने बाल साहित्य के जरिये बच्चों के संवेदनशील जेहन में मनुष्य की अपराजेय शक्ति में आस्था, बन्धुत्व, लोकतंत्र, इन्साफ और आजादी के साथ परिवर्तन के बीज रोपते हैं।

अप्रवासी कामगार और उनके बच्चों का असुरक्षित भविष्य

-- शैलेन्द्र चौहान

एक ओर तो अप्रवासी मजदूरी का काम उनके परिवार के लिए जीवन निर्वाह के साधन मुहैया करता है, वहीं उनके लिए भारी जोखिम भी पैदा कर देता है। इस जोखिम का सबसे अधिक असर अप्रवासी मजदूरों के बच्चों को ही झेलना पड़ता है। ये बच्चे अक्सर अपने माँ-बाप के साथ उनकी मजदूरी के ठिकानों पर जाने के लिए विवश होते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत में अपने परिवारों पर आश्रित लगभग साठ लाख अप्रवासी मजदूरों के बच्चे हर साल अपने माँ-बाप के साथ भटकते रहते हैं। कई लाख बच्चों पर इसका परोक्ष रूप में असर पड़ता है और इनमें से अधिकांश बच्चे माँ-बाप की अनुपस्थिति में कोई न कोई घरेलू जिम्मेदारी उठाने के लिए विवश होते हैं। दुर्भाग्यवश केन्द्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर भारतीय प्रशासन ने अप्रवासी मजदूरों के बच्चों के कल्याण को प्राथमिकता नहीं दी है और ये बच्चे उपेक्षित होते रहे हैं। और इन बच्चों की इस समस्या को हल करने के लिए कोई भी आगे नहीं आया है।

राजस्थान, मध्य प्रदेश और गुजरात राज्य के उत्तर और पूर्व में रहने वाले अनुसूचित जनजाति के गरीब अप्रवासी मजदूरों के लिए मध्य गुजरात के शहरी इलाके लोकप्रिय ठिकाने रहे हैं। गुजरात के ईंट भट्टों, सूत की कताई, निर्माण कार्य, और कृषि उद्योगों के लिए अधिकांश मौसमी मजदूर इन्हीं इलाकों से आते हैं। दक्षिणी गुजरात में अनुसूचित जनजाति के अनेक परिवार (अधिकांशतः भील और गरसिया जनजाति के लोग) दो-जून रोटी के लिए अप्रवासन पर ही निर्भर रहते हैं।

भारी गरीबी के कारण अप्रवासी मजदूरों में महिला अप्रवासियों की संख्या बहुत ज्यादा है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डेविड मोसे के नेतृत्व में सन् 1997 में इस इलाके के अप्रवासन पर किये गये अध्ययन के अनुसार अप्रवासी मजदूरों में महिलाओं की संख्या 42 प्रतिशत है। दक्षिणी राजस्थान में गाँवों में किये गये एक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि गुजरात में अप्रवासन के लिए आने वाले 75 प्रतिशत महिला अप्रवासी मजदूर और 82 प्रतिशत पुरुष अप्रवासी मजदूर अपने पूरे जीवन में कम से कम एक बार तो गुजरात में अवश्य रहे हैं। एक ओर जहाँ इस इलाके के अनुसूचित जनजाति के लगभग सभी परिवारों के पास कुछ न कुछ जमीनें हैं, वहीं उनकी जोत छोटी हैं और अनुत्पादक भी। और सिंचाई की सुविधा तो और भी कम लोगों के पास है। एक समय था, जब ये लोग अपनी आजीविका के लिए जंगल पर निर्भर रहते थे, लेकिन इस इलाके में जंगल के भारी विनाश के कारण इन समुदायों के पास अब आजीविका के और भी कम अवसर बचे हैं। इनमें से कुछ लोग तो अनियमित मजदूरी से अपना भरण-पोषण कर लेते हैं, लेकिन अधिकांश लोग स्थानीय साहूकारों के कर्ज और आर्थिक असुरक्षा के कारण आर्थिक बोझ से दबे रहते हैं। चूँकि इनकी अधिकतर आमदनी का स्रोत अप्रवासी मजदूरी ही है, इसलिए दक्षिणी राजस्थान में मनरेगा के कार्यक्रम का इनके परिवारों के अप्रवासी पैटर्न पर बहुत कम असर हुआ है। सर्वेक्षण के अनुसार 79 प्रतिशत प्रौढ़ मजदूरों ने इस कार्यक्रम में कम से कम एक बार भाग तो लिया ही है, लेकिन उन्होंने एक साल के अन्दर अप्रवासन करके मजदूरी भी की है।

आजीविका के लिए अप्रवासी मजदूरी पर निर्भर रहने से परिवार पर भारी बोझ भी पड़ता है। अप्रवासन करने वाले अधिकांश सीमान्त समुदायों के लिए जरूरी हो जाता है कि सारा परिवार ही कार्यस्थल पर उनके साथ रहे, क्योंकि अपने ही गाँव में बच्चों को छोड़ने के लिए उनके पास कोई ठौर-ठिकाना नहीं होता। श्रमिक अनुसन्धान व कार्य प्रयास केन्द्र के एक अनुमान के अनुसार केवल ईंट के भट्टों पर ही स्कूल न जाने वाले बच्चों की संख्या 8,40,000 है। बाँसवाड़ा में यह देखा गया कि 34 अप्रवासी मजदूर परिवारों के पास कम से कम एक साल में एक बच्चा तो उनके साथ अवश्य ही रहता है। बारह साल की उम्र के बाद बच्चे भी निर्माण स्थलों पर अपने माँ-बाप की मदद करने लगते हैं, लेकिन ईंट के भट्टों पर तो ये बच्चे पाँच साल की उम्र से ही काम करना शुरू कर देते हैं। पीस-मील मजदूरी प्रणाली में तो बाल श्रमिकों को प्रोत्साहन मिलता है।

कार्यस्थलों पर बच्चों को चोट लगने और बीमार पड़ने की आशंका के साथ-साथ वे शोषण के भी शिकार होते हैं। साथ ही वे शैक्षणिक अवसरों से भी वंचित हो जाते हैं। अगर वे शिक्षित हो जाते तो शायद गरीबी के दुश्चक्र से भी छुटकारा पाने की गुंजाइश हो सकती थी। हालाँकि इस क्षेत्र में अमरीकन इण्डिया फाउण्डेशन

(एआईएफ) के वित्तपोषण से चलने वाले अनेक गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) कार्यस्थलों पर ही बच्चों को शिक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं फिर भी कार्यस्थलों के परिवेश को शिक्षा के अनुकूल बनाना आसान नहीं है। और इस प्रकार के प्रयासों से बहुत मामूली लाभ ही हो पाता है। तदनुसार तीन राज्यों के बहुत अधिक अप्रवासन वाले इलाकों में अप्रवासी छात्रावास कार्यक्रम चलाने वाले एआईएफ ने, अपने शिक्षण व अप्रवासन सम्बन्धी कार्यक्रम 'लिटरेसी एग्रीकल्चर एण्ड मेडिकल प्रोजेक्ट फोर रूरल डेवलपमेन्ट' (लैम्प) को स्रोत व गन्तव्य, दोनों ही क्षेत्रों पर दोहरा ध्यान देने के बजाय पूरी तरह से स्रोत-गाँव (रिसोर्स विलेज) केंद्रित प्रयास शुरू कर दिये हैं।

जिन बच्चों के माँ और बाप दोनों ही अप्रवासी मजदूरी के लिए गाँव से बाहर चले जाते हैं, उनके कन्धों पर अधिकांश या फिर सारी की सारी घरेलू जिम्मेदारी आ जाती है। इसके कारण दक्षिणी राजस्थान में ऐसे घरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है जिनका संचालन बच्चे ही करते हैं। हाल ही में 'सेव द चिल्ड्रन' ('बच्चों को बचाओ') संगठन ने इस विषय पर एक दस्तावेज तैयार किया है। माँ-बाप की अनुपस्थिति में बारह साल की उम्र के जो बच्चे घर की पूरी जिम्मेदारी सँभालते हैं और छोटे भाई-बहनों की देखभाल करते हैं, उनके पास स्कूल जाने का समय ही नहीं बचता। बाँसवाड़ा के अधिकांश प्राथमिक स्कूलों में खास तौर पर दिवाली के बाद अप्रवासन के मौसम के बाद जैसे-जैसे शैक्षणिक सत्र आगे बढ़ता है, छात्रों की उपस्थिति कम होती जाती है।

छात्रों को स्कूल प्रणाली के अन्तर्गत दुबारा लाना सचमुच एक चुनौती है। खास तौर पर अनुसूचित जनजाति वाले इलाकों में स्कूल न जाने वाले छात्रों की संख्या वहाँ अधिक है जहाँ अप्रवासन के कारण बच्चे स्कूल छोड़ देते हैं। इसलिए ड्रॉप आउट को रोकने के लिए किये जाने वाले प्रयासों पर निवेश करने में ही समझदारी है। अप्रवासी छात्रावास और कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय (जो आवासीय प्राथमिक बालिका विद्यालयों का एक कार्यक्रम है) दो ऐसी संस्थाएँ हैं जो अप्रवासन के कारण होने वाले ड्रॉप आउट को कम करने में कुछ हद तक कारगर सिद्ध हुई हैं। इन दोनों कार्यक्रमों को मान्यता देकर बाल मजदूरी और ड्रॉप आउट को रोकने की सरकारी रणनीति को सफल बनाया जा सकता है। लेकिन इस समस्या पर सिर्फ गैर सरकारी संगठनों के ऊपर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता। लेकिन नवउदारवादी दौर में सामाजिक सुरक्षा पर भारी बजट कटौती को देखते हुए इस दिशा में किसी सरकारी प्रयास की उम्मीद नहीं दिखती। देश की भावी पीढ़ी के प्रति यह लापरवाही अत्यन्त क्षोभजनक है।

पेज 58 का शेष.....

ने परियोजना पर कब्जा कर लिया और माँगें मान लेने के बाद ही खान कम्पनी को सौंपी।

एण्डीज और अमेजन के सभी क्षेत्रों में मजदूरों की एक आज्ञप्ति बहुत मशहूर हुई है " प्राकृतिक संसाधन हमारे हैं लेकिन पूँजी ने उन्हें हमसे छीन लिया है। हम इन्हें वापस लेने की लड़ाई लड़ रहे हैं ताकि इनका इस्तेमाल लोगों और पर्यावरण की दशा सुधारने के लिए किया जा सके।"

मेहनतकशों और मूल निवासियों के आन्दोलन को कुचलने के लिए राष्ट्रपति विजकारा ने तीन सैन्य अधिकारियों को मंत्रिमण्डल में शामिल करके उन्हें खुद ही फैसला लेने का अधिकार दे दिया। इस पूरे संकट काल में पेरू के राजनेता सेना को महिमामंडित करके उसे राजनीति से ऊपर स्थापित करने में लगे रहे क्योंकि राजनेताओं से जनता का विश्वास उठ चुका था। वह इन्हें कम्पनियों के एजेण्ट से ज्यादा कुछ नहीं मानती। इससे पहले पेरू के चार राष्ट्रपतियों को भ्रष्टाचार के मामलों में गिरफ्तार किया जा चुका था। कांग्रेस के लगभग दो तिहाई लोगों के खिलाफ भ्रष्टाचार के मुकदमे चल रहे हैं। खुद विजकारा के खिलाफ भ्रष्टाचार के मामले लम्बित हैं। भ्रष्टाचार के इन मामलों में किसी ना किसी रूप में कोई कम्पनी जुड़ी है। सरकार की यह कोशिश नाकाम रही और एण्डीज की तलहटी से शुरू हुआ आन्दोलन पूरे देश में फैल गया।

जनता पूरी व्यवस्था को ही निशाने पर ना ले, इससे बचने के लिए शासक वर्ग ने विजकारा की कुर्बानी देने का फैसला किया। 11 सितम्बर को विजकारा के खिलाफ भ्रष्टाचार के एक मामले में कांग्रेस ने जाँच शुरू कर दी। हालाँकि, पिछले साल जब कांग्रेस ने उनके खिलाफ जाँच की कोशिश की थी तो विजकारा ने सेना और पुलिस के दम पर कांग्रेस को ही बर्खास्त कर दिया था। सत्ता पर विजकारा की पकड़ पिछले साल से ज्यादा मजबूत होने के बावजूद कांग्रेस ने उन्हें 10 नवम्बर को बर्खास्त कर दिया। कमाल की बात यह है कि विजकारा ने इस फैसले को खुशी-खुशी स्वीकार भी कर लिया मानो उनके मन की मुराद पूरी हो गयी हो। गौरतलब है कि पेरू में जुलाई 2021 में फिर चुनाव होने हैं।

जून से ही पेरू की जनता नव उदारवादी मॉडल में कम्पनियों को मिली लूट की खुली छूट के खिलाफ शानदार संघर्ष कर रही थी लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया इससे मुँह फेरे हुए था। 10 नवम्बर को विजकारा की बर्खास्तगी के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया ने पेरू पर नजरेइनायत की और साम्राज्यवादी नव उदारवाद के खिलाफ पेरू की जनता के आन्दोलन को विजकारा की बर्खास्तगी के खिलाफ उनके समर्थकों के आन्दोलन का रूप दिया, लेकिन यह खेल कितने दिनों तक चलेगा!

पेरू का संकट : साम्राज्यवादी नव उदारवादी नीतियों का अनिवार्य परिणाम

-- प्रवीण कुमार

पिछले महीनों में पेरू की जनता शानदार ऐतिहासिक उथल-पुथल में व्यस्त रही। फिल्मी नायिकाओं की पोशाकों की तरह राष्ट्रपति बदले गये। नवम्बर महीने में तीन राष्ट्रपति बदले गये। जून से ही जनता और सेना आमने-सामने हैं। शासक भयभीत हैं, उनका राज बेराज हो चुका है। 19 नवम्बर को कांग्रेस ने फ्रंसिसकी सजस्ती को राष्ट्रपति का पद सौंप दिया है। देखते हैं, वे कितने दिन टिकते हैं।

व्यवस्था ने जनता का विश्वास खो दिया है लेकिन जनता के पास अभी इसका कोई विकल्प नहीं है। कांग्रेस के पास ऐसा कोई नेता नहीं जिसे जनता का विश्वास हासिल हो। त्रासदी यह है कि जनता के पास भी ऐसा कोई नेता नहीं जो सबको स्वीकार हो। भविष्य तो नजूमी ही जाने लेकिन पेरू की जनता ने अपने देश में लागू साम्राज्यवादी नव उदारवादी व्यवस्था को जबरदस्त चोट पहुँचायी है।

एक दशक तक पेरू की आर्थिक वृद्धि के चमत्कार का लातिन अमरीका में खूब डंका बजा, लेकिन कोरोना परिघटना ने इसके खोखलेपन को जगजाहिर कर दिया। पेरू के शासक कोरोना की आपदा को अवसर में बदलने के लिए बेताब थे और जनता पहले ही साम्राज्यवादी लूट से पस्त और गुस्से से भरी थी। मौजूदा राजनीतिक संकट इसी टकराव का परिणाम है।

पेरू में कोरोना का पहला मामला मार्च में सामने आया था। 3.2 करोड़ की आबादी वाले पेरू के पास उस समय केवल 100 आईसीयू बिस्तर थे और एक मृतप्राय सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली। हाल यह था कि कोरोना का मुकाबला करने जा रहे डॉक्टरों और नर्सों को देने के लिए मास्क और दस्ताने भी स्वास्थ्य विभाग के पास नहीं थे। सरकारी अस्पताल नाममात्र के बचे थे और निजी अस्पतालों ने संक्रमितों के लिए दरवाजे बन्द कर लिये। नतीजतन, बहुत जल्दी ही हालात भयावह हो गये। मजबूरी में स्वास्थ्य कर्मियों को सड़कों को ही अस्पताल बनाना पड़ा।

17 मार्च को सरकार ने जनता पर 90 दिन का सैन्य लॉकडाउन थोप दिया। लगे हाथ राष्ट्रपति विजकारा ने जनता को सामाजिक जिम्मेदारी निभाने की नसीहत भी दे दी। उस वक्त देश में कुल 71 लोग कोरोना से संक्रमित थे और एक भी मौत नहीं हुई थी। लॉकडाउन में मेहनतकश जनता का गुजारा कैसे होगा इसकी कोई चिन्ता सरकार ने नहीं की। जल्दी ही प्रवासी मजदूर अपने घरों को जाने के लिए लाखों की संख्या में सड़कों पर निकल पड़े। इनमे से बहुतों को पकड़कर शहर के बाहर बने शिविरों में कैद कर लिया गया। जो इन कैदखानों से बचने में कामयाब रहे वे अनगिनत मुसीबतें झेलते हुए अपने परिवारों तक पहुँचे।

जून में, जब लॉकडाउन हटा, संक्रमितों की संख्या बढ़कर लगभग तीन लाख हो गयी थी और 17619 लोगों की जान जा चुकी थी। सितम्बर में आठ लाख संक्रमित थे और 31 हजार मौतें हो चुकी थीं। आबादी के अनुपात में पेरू दुनिया का सबसे ज्यादा संक्रमितों और मौतों वाला देश बन गया था। हालाँकि, पैन अमरीकन हेल्थ ऑर्गेनाईजेशन का कहना था कि 27000 लोगों की मौतों को सरकार ने दर्ज ही नहीं किया।

पेरू के अर्थशास्त्र संस्थान के अनुसार कोरोना काल में मार्च से अक्टूबर के बीच एक करोड़ लोगों की जीविका उजड़ गयी। हर छः मजदूरों में से चार की आय के स्रोत पूरी तरह सूख गये। केन्द्रीय बैंक का अनुमान है कि साल के अन्त तक अर्थव्यवस्था 12.5 प्रतिशत सिकुड़ जाएगी।

प्राकृतिक संसाधनों के मामले में पेरू दुनिया के सबसे धनी देशों में है। इसकी एण्डीज पर्वत शृंखला की तलहटी में ताँबा, सोना, चाँदी, टिन, जस्ता जैसे बहुमूल्य खनिज भरे पड़े हैं। इसके अलावा अमेजन का विशाल बेसिन है, जिसकी सतह पर बेशकीमती वर्षा वन है और सतह के नीचे तेल और प्राकृतिक गैस का अकूत भण्डार।

पेरू के शासकों ने 1993 में आर्थिक उदारीकरण की साम्राज्यवादी नीतियों को स्वीकार किया था। ऐसे सभी देशों की तरह वहाँ भी डब्ल्यूटीओ, आईएमएफ की देखरेख में ढाँचागत समायोजन, सरकारी संस्थानों और प्राकृतिक संसाधनों का निजीकरण और आयात-निर्यात की नीतियों में बदलाव

किये गये।

इन बदलावों के परिणाम के बारे में पेरू के प्रसिद्ध अखबार ला इज्क्विर्दा दिपरियो की सम्पादक सेसिलिया क्विरोज ने लिखा है कि एण्डीज के पहाड़ों में स्वचालित खानें फैली हुई हैं लेकिन उन्हीं के पास बसे गाँवों के लोगों को पीने का साफ पानी भी मयस्सर नहीं है। यहाँ परिष्कृत बैंकिंग व्यवस्था और संगठित वित्तीय पूँजी है लेकिन मजदूर कंगाल हैं। अमेजन के वर्षा वनों पर तेल, वानिकी, कृषि क्षेत्र की चोटी की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कब्जा जमा चुकी हैं लेकिन इन इलाकों के मूल निवासी पूर्व पूँजीवादी अवस्थाओं में जीने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

पिछले दशक में पेरू की विकास दर रॉकेट की रफ्तार से बढ़ी। विदेशी निवेश की नदियाँ बहने लगी। खनन कम्पनियाँ टिड्डी दल की तरह पेरू के खनिजों पर टूट पड़ी। एक दशक में ही खनन में 87 प्रतिशत बढ़ोतरी हुई। दूसरी ओर सामाजिक सुरक्षा का ढाँचा तबाह हो गया। **अर्थव्यवस्था में असंगठित क्षेत्र बढ़कर 90 प्रतिशत हो गया। रोजगार में कमी और अनिश्चितता तेजी से बढ़ी और पेरू सबसे कम मजदूरी वाले देशों में शामिल हो गया।** मूलनिवासियों को बड़ी संख्या में उजाड़ा गया। खनिजों के साथ-साथ जमीन और जंगल की भी भारी लूट हुई। अमेजन एटलस के मुताबिक पिछले दो दशकों में अमेजन का 5,13,016 वर्ग किलोमीटर वर्षा वन उजाड़ दिया गया। टोड़ गार्डन और जेफरे वेबर ने अपनी पुस्तक "ब्लड ऑफ एक्सट्रैक्शन" में इस लूट का वर्णन किया है।

कोरोना महामारी का फायदा उठाते हुए सरकार ने पूँजीपतियों को वे तमाम अधिकार दे दिये जिसकी वे कल्पना कर सकते थे। इसके खिलाफ उठनेवाले विरोध को तुरन्त दबाया जा सके इसके लिए पुलिस और सेना को भी असीमित अधिकार दिये गये। मार्च के अन्त में ही कांग्रेस ने सेना और पुलिस को क्वारनटाइन के नियम लागू करवाने के नाम पर किसी की हत्या तक करने का कानूनी अधिकार दे दिया था।

जून में लॉकडाउन खुलते ही सरकार और कम्पनियों के खिलाफ प्रदर्शनों की बाढ़ आ गयी। जून और जुलाई में ही 162 प्रदर्शन हुए। आर्थिक सहायता और इलाज की गारन्टी इनकी मूल माँग थी। अगस्त और सितम्बर में हालात और बिगड़ गये। मूल निवासी जनता, मजदूर, किसान और स्वास्थ्यकर्मी सरकारी इमारतों, कम्पनियों के दफ्तरों, खनन परियोजनाओं का घेराव करने लगे। **26-27 अगस्त को पेरू के डॉक्टरों और नर्सों ने लातिन अमरीका के इतिहास की सबसे बड़ी हड़ताल की।**

पेरू की जीड़ीपी का 10 प्रतिशत खनिजों से आता है। इस क्षेत्र में 15 लाख मजदूर कम करते हैं। साल के शुरू में ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया की कम्पनियों ने खनन में 58 अरब डॉलर का निवेश किया था। इनकी मुनाफा वसूली में देर ना हो इसके लिए सरकार ने खनन को आवश्यक सेवा का दर्जा देकर कम्पनियों को लॉकडाउन में भी उत्पादन जारी रखने का अधिकार दे दिया। नतीजतन खदानें कोरोना का केन्द्र बन गयी।

विरोध की बिगुल सबसे पहले मूल निवासियों ने बजाया। एण्डीज की तम्बो घाटी में 2011 में मूल निवासियों ने संघर्ष करके सदर्न कॉपर के तिय मारिया प्रोजेक्ट को बन्द करवाया था। कोरोना काल में सरकार ने पर्यावरण सम्बन्धी नियमों में छूट दे दी जिसके आधार पर जुलाई में कम्पनी ने इस प्रोजेक्ट को फिर से चालू कर दिया। इसका भारी विरोध हुआ और प्रोजेक्ट को फिर से बन्द करना पड़ा।

जुलाई में एस्पेनार में किसानों ने इस क्षेत्र में कोरोना के प्रसार के लिए ग्लेंकोरे कम्पनी को जिम्मेदार ठहराया। इसकी एक ताँबा खानों को घेर लिया और लॉस बम्बास खान के वाहनों को जला दिया। प्रदर्शनकारियों ने पुलिस और सेना का डटकर मुकाबला किया। इन्होंने कम्पनी से क्षेत्र में हुए आर्थिक और स्वस्थ्य सम्बन्धी नुकसान की भरपाई करने की माँग की। जिसे कम्पनी को मानना पड़ा।

अमेजन के लोरेटो क्षेत्र की आबादी 3.30 लाख है। अगस्त के शुरू में ही यहाँ कोरोना के एक लाख से ज्यादा मामले सामने आ चुके थे और तीन हजार मौतें हो गयी थीं। क्षेत्र के मूल निवासियों ने इसके लिए पेट्रो ताल नाम की तेल कम्पनी को जिम्मेदार ठहराया और इसकी आयल रिफाइनरी पर कब्जा कर लिया। कब्जे के संघर्ष में चार मूल निवासी शहीद और 17 गम्भीर रूप से घायल हुए। इनकी भी वही माँग थी, कम्पनी क्षेत्र की जनता के इलाज और नुकसान की जिम्मेदारी ले।

नेशनल फेडरेशन ऑफ माइनिंग, मेटेलर्जिकल एण्ड स्टील वर्क्स ऑफ पेरू का कहना है कि अगस्त में एण्डीज पर्वत तलहटी में फैले विशाल खनन क्षेत्र में दर्जनों हड़तालें हुईं जिनकी साझी माँग थी कि कम्पनियाँ और सरकार जनता को हुए आर्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी नुकसान की जिम्मेदारी लें। पर्यावरण के विनाश के खिलाफ सालों से चल रहा आन्दोलन भी मानवीय विनाश के खिलाफ उठ खड़े हुए इस आन्दोलन के साथ आकर जुड़ गया।

अगस्त के शुरू में 700 खनिकों के कोरोना संक्रमित हो जाने पर ला लिब्रेतिद क्षेत्र की सोने और चाँदी की खानों में हड़ताल हो गयी, जो आसपास की सभी खानों में फैल गयी। माँग वही थी कि सरकार और कम्पनियाँ मजदूरों समेत क्षेत्र की जनता के स्वास्थ्य की पूरी गारन्टी लें, खतरनाक हालात में काम के लिए अलग से भुगतान करें, बीमार होने पर सवैतनिक अवकाश दें, इलाज का पूरा खर्च वहन करें आदि। दोए रन कम्पनी के कॉब्रिजा परियोजना में 1500 मजदूरों को निकाले जाने के खिलाफ हड़तालियों

शेष पेज 56 पर...

बायोमेडिकल रिसर्च

-- डॉ. पी के राजगोपालन

(भारत के स्वास्थ्य विज्ञान में अनुसन्धान की खामियों पर एक वैज्ञानिक का तथ्यपरक लेख)

भारत में स्वास्थ्य विज्ञान में अनुसन्धान वर्षों के जमीनी काम पर आधारित समस्या-समाधान की दिशा में नहीं किये जा रहे हैं, यही मुख्य वजह है कि तमाम पुरानी और नयी बीमारियाँ लगातार हमें अपना शिकार बना रही हैं।

भारत कभी स्वास्थ्य अनुसन्धान में अग्रणी था। भारत और ब्रिटेन के दिग्गजों ने आजादी से पहले और बाद में भी कुछ दिनों तक मिलकर प्लेग अनुसन्धान (1900 के दशक का महान प्लेग आयोग) और मलेरिया अनुसन्धान पर शानदार काम किया था। 1900 के दशक में भारतीय अनुसन्धान कोष संस्था की शुरुआत हुई, जो स्वास्थ्य अनुसन्धान के लिए अनुदान देती थी। आजादी के बाद यही भारतीय स्वास्थ्य अनुसन्धान परिषद (आईसीएमआर) बन गयी, जिसके पहले डायरेक्टर डॉक्टर सी जी पण्डित बने। हैदराबाद में देश की पहली स्वास्थ्य अनुसन्धान संस्था नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ न्युट्रिशन की स्थापना हुई, दूसरी संस्था वायरस अनुसन्धान केन्द्र (वीआरसी) 1952 में शुरू हुई। आजादी के बाद आईसीएमआर के डायरेक्टर की पोस्ट को बढ़ाकर डायरेक्टर जनरल कर दिया गया, क्योंकि आजादी के बाद अब कई सारे संस्थान शुरू हो गये थे।

दूरदर्शी डॉ सी जी पण्डित के समय से अब तक आईसीएमआर ने लम्बी यात्रा तय कर ली है। उनके समय में उत्कृष्टता की जो परम्परा विकसित हुई थी वह सालों तक कई डायरेक्टर जनरल की देखरेख में चलती रही। इनमें डॉ सी गोपालन, प्रोफेसर वी रामलिंगस्वामी और डॉ ए एस पैण्टल (जो 1990 में रिटायर हुए) जैसे दिग्गज थे। इनके कार्यकाल को अनुसन्धान की प्रगति और प्रसार के लिए सुनहरा काल कहा जा सकता है। ये सभी रॉयल सोसाइटी के सदस्य और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक थे जिन्होंने गुणवत्तापूर्ण अनुसन्धान पर ध्यान केन्द्रित किया। कई संस्था मलेरिया, फाइलेरियासिस, काला जार और तमाम तरह की बीमारियों के समाधान की दिशा में अनुसन्धान कार्य की अलग-अलग विशेषज्ञता लेकर आगे बढ़े। जैसे-जैसे समय बीता, अनुसन्धान धीरे-धीरे रुटीन के काम यानी नौकरी में बदल गया।

मौजूदा अनुसन्धान

कोई पूछ सकता है कि आजकल भारत का बायोमेडिकल अनुसन्धान किस राह पर चल रहा है। यहाँ अलग-अलग क्षेत्रों में कई सारे संस्थान हैं। जब मैं वेक्टर कण्ट्रोल रिसर्च सेण्टर, पाण्डिचेरी में काम कर रहा था तब की एक मजेदार घटना बताता हूँ। 1989 की बात है, प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने यूनियन हेल्थ मिनिस्टर बी शंकरानन्द से पूछा– आईसीएमआर क्या करती है। तब आईसीएमआर में एक मीटिंग आयोजित की गयी और इन्दिरा गाँधी को न्योता दिया गया। आईसीएमआर के अलग-अलग संस्थानों के डायरेक्टर्स ने प्रजेण्टेशन देकर अपने कामों के बारे में बताया।

इन्दिरा गाँधी ने ध्यानपूर्वक सुना, नोट्स बनाये। तब उन्होंने वैज्ञानिकों को प्रेजेण्टेशन के लिए आभार व्यक्त किया और आयोजनकर्ताओं को धन्यवाद दिया। अन्त में उन्होंने कहा कि उनकी समझ में नहीं आता कि राजस्थान में रतौन्धी रोग इतना ज्यादा क्यों फैला हुआ है, बहुत सारी औरतें गले के कैंसर से क्यों पीड़ित हैं? मलेरिया जैसी बीमारियों से बहुत सारे लोग क्यों मर जाते हैं? वह जानना चाहती हैं कि आईसीएमआर ने उनके लिए क्या किया?

कई लोगों के लिए यह रहस्य से पर्दा हटाने जैसी बात होगी कि आईसीएमआर में होने वाले अनुसन्धानों का आम आदमी को कोई फायदा नहीं मिला। आजादी के बाद के कई वर्षों तक, और यहाँ तक कि कुछ वर्षों पहले, रॉकफेलर फाउण्डेशन (आरएफ) और फोर्ड फाउण्डेशन जैसे परोपकारी विदेशी संगठन भारत में काम कर रहे थे, पहले स्वास्थ्य क्षेत्र में और बाद में कृषि क्षेत्र में। वीआरसी को रॉकफेलर फाउण्डेशन द्वारा आईसीएमआर के सहयोग से शुरू किया गया था और वह आर्थ्रोपोड-संचारित वायरल रोगों पर अपने काम के लिए विश्व प्रसिद्ध हो गया।

वीआरसी द्वारा भारत में 1949 में पहली बार एक मिनी सीरोलॉजिकल सर्वेक्षण किया गया। उस समय इस सर्वेक्षण में पाया गया कि मानव सीरा में जीका सहित कई वायरल रोगों के लिए एण्टीबॉडी मौजूद थी। जापानी इन्सेफेलाइटिस (जेई), और कयासूर वन रोग (केएफडी) पर वीआरसी का काम पारिस्थितिकी और

महामारी विज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्ट था। रॉकफेलर फाउण्डेशन ने 1970 में अपने कामों को समेट लिया। आईसीएमआर काम के माहौल को बनाये नहीं रख सका और एक बड़ा सरकारी संगठन बन गया।

महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या हमने मलेरिया, डेंगू, चिकनगुनिया, जापानी इन्सेफेलाइटिस और केएफडी जैसे रोगों के नियंत्रण में कोई प्रगति हासिल की है? हम अभी भी साल-दर-साल घटनाओं का (और महामारी) का सामना कर रहे हैं। कुछ उपेक्षित उष्णकटिबन्धीय रोग (एनटीडी) भी हैं जैसे स्क्रब टाइफस जिसे पूरी तरह से नजरअन्दाज कर दिया गया। कई अनुसन्धान संस्थाओं को विचित्र कारणों से भारत के विभिन्न हिस्सों में शुरू किया गया था, उदाहरण के लिए कुछ राजनीतिज्ञ अपने निर्वाचन क्षेत्र में एक संस्था चाहते थे या कुछ वैज्ञानिकों को निदेशक के पद के साथ पुरस्कृत किया जाना था।

वीसीआरसी और मलेरिया अनुसन्धान केन्द्र (एमआरसी) से निकले हुए अनुभवी और योग्य वैज्ञानिक कर्मियों को स्थानान्तरित करने के लिए संस्थाओं का निर्माण किया गया था, और कभी-कभी उन वैज्ञानिकों को भी कोई जगह देने के लिए जिन्हें सरकार नहीं जानती थी कि इनके साथ क्या किया जाये (उदाहरण के लिए, मेडिकल एण्टोमोलॉजी अनुसन्धान केन्द्र, सीआरएमई)। तब क्षेत्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट भी करना होता था, इसलिए क्षेत्रीय चिकित्सा अनुसन्धान केन्द्र स्थापित किये गये। कुछ संस्थाओं में, स्पष्ट रूप से काम के दुहराव वाली प्रवृत्ति भी है। समस्या-समाधान सम्बन्धी रिसर्च करने वाला कोई नहीं है।

इन्दिरा गाँधी ने कई दशक पहले जो सवाल उठाये थे, वे अब भी प्रासंगिक लगते हैं। तमाम स्वास्थ्य समस्याएँ हमें घेरे रहती हैं, उनमें से कुछ विज्ञान के लिए नयी हैं, जैसे कि कोविड-19, और इनका हम अभी युद्ध स्तर पर सामना करने में सक्षम नहीं हैं। मेरे विचार में, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (आईसीएमआर) ने अपनी हरित क्रान्ति (प्रो एम एस स्वामीनाथन की मेहरबानी) और श्वेत क्रान्ति (प्रो वर्गीज कुरियन की मेहरबानी) के जरिये राष्ट्र को अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। निसन्देह, स्वास्थ्य के क्षेत्र में ऐसी प्रगति दिखाई नहीं देती और जर्नल्स तथा पत्र-पत्रिकाओं में पेपर छप जाना कोई समाधान नहीं है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य समस्याएँ

अब भी, पूरे भारत में लोग मलेरिया, फाइलेरिया, काला जार और केएफडी से पीड़ित हैं या मरते रहते हैं। मैंने जर्नल ऑफ कम्युनिकेबल डिजीजेज और फ्रण्टलाइन जैसी पत्रिकाओं में बायोमेडिकल रिसर्च के बारे में हमारे दृष्टिकोण से जुड़ी कमियों को उजागर करने के लिए कई लेख लिखे हैं। लेकिन लगता है कि किसी ने भी इन पर कोई संज्ञान नहीं लिया।

1930 के दशक में, हिटलर के जर्मनी ने क्षेत्र विशेष के अनुसन्धान पर जोर दिया, विज्ञान को इससे नुकसान पहुँचा, कई वैज्ञानिक दूसरे देशों में चले गये। आज हमारी भी स्थिति ऐसी ही है। बायोमेडिकल रिसर्च में प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को अब केवल तभी धन मिलता है, जब आणविक जीव विज्ञान और जलवायु परिवर्तन जैसे आकर्षक वाक्यांश शामिल हों। विदेशी सहयोग अब इतनी हास्यास्पद हद तक पहुँच गया है कि हम विदेशी सहयोगियों के अनुसन्धान के लिए कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता बन गये हैं (उदाहरण के लिए मलेरिया/फाइलेरिया परजीवी से संक्रमित मानव रक्त के नमूने भेजते हैं) बदले में डॉलर अनुदान और विदेशी यात्राएँ मिलती हैं। इस तरह के विदेशी सहयोग ने सार्थक स्वदेशी अनुसन्धान को दबा दिया है, और वैज्ञानिक कार्यकर्ता, विशेष रूप से जो विदेशों में उच्च प्रशिक्षण के बाद भारत लौटते हैं, वातानुकूलित प्रयोगशालाएँ और महँगे आयातित उपकरण चाहते हैं, और वे ऐसे शोधपत्र भी प्रकाशित करना चाहते हैं, जिन्हें छापना स्वास्थ्य समस्याओं से कोई प्रासंगिकता नहीं रखता।

जहाँ तक सार्वजनिक स्वास्थ्य का सवाल है, समस्याएँ लोगों के बीच हैं और लोगों में काम करने पर जोर दिया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से, यह हमारी राजनीति की एक बुनियादी समस्या है, जैसा कि दुनिया के कई हिस्सों में है, विज्ञान और अनुसन्धान अब समस्या-समाधान के लिए निर्देशित नहीं हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) के एक महानिदेशक डॉ हॉफडन टी महलर के अनुसार, बायोमेडिकल अनुसन्धान दर्द निवारक की ओर उन्मुख है, जो उन लोगों की तरफ मुखातिब है जो शोध के लिए रुपया देते हैं न कि इलाज खोजने की ओर। उन्होंने महसूस किया कि जो "बाजार को लेकर कट्टर और मुक्त व्यापार के धर्मशास्त्री थे" उनको स्वदेशी योजना और काम करना पसन्द नहीं आया।

सरकार रुपया देने को लेकर उदार है। संस्था के पास विशाल इमारतें, महँगे उपकरण हैं और पैसे को पानी की तरह बहाया गया है। इनमें से अधिकांश ने देश की तत्काल स्वास्थ्य आवश्यकताओं में लगभग कोई योगदान नहीं दिया है; बस कुछ दूसरे संस्थाओं के काम की नकल कर रहे हैं। लेकिन वे सब जर्नल्स में कई-कई शोधपत्र प्रकाशित करते हैं। 1975 में, आईसीएमआर के डॉ गोपालन ने प्रत्येक संस्था के लिए वैज्ञानिक सलाहकार समितियों (एसएसी) की शुरुआत की। इसका मतलब संस्था के कार्य-प्रदर्शन का ऑडिट होना था। डीजी की अध्यक्षता में प्रत्येक एसएसी संस्था की सलाहकार समितियों के पास आईसीएमआर के बाहर के कई वैज्ञानिक थे, जो उन विषयों के विशेषज्ञ थे, जिन विषयों में संस्थाएँ काम कर रही थीं। वास्तव में इनमें बौद्धिक चर्चाएँ होती थीं, और सकारात्मक निर्देश दिये जाते थे। इस पद्धति को उनके उत्तराधिकारी, प्रो वी रामलिंगस्वामी और प्रो ए एस पेण्टल ने मजबूत निर्णय लेकर और सुधारा।

आजकल, किसी भी संस्था की सलाहकार समिति में डीजी शामिल नहीं होते हैं। आईसीएमआर के बाहर के वैज्ञानिक जो सेवानिवृत्त हो चुके हैं, उन्हें अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया जाता है। हालाँकि निश्चित रूप से सलाहकार समितियों के अध्यक्ष के रूप में बाहरी लोगों की भूमिका को कम करना मेरा उद्देश्य नहीं है, पर उनमें से कई अपने पद के योग्य नहीं हैं। आईसीएमआर अपने स्वयं के प्रतिनिधि भेजता है और वे आईसीएमआर की नीतियों, पंचवर्षीय योजनाओं इत्यादि के बारे में यंत्रवत बोलते हैं। यदि आप उनसे कुछ और पूछते हैं, तो वे कहते हैं कि इस सिलसिले में उनके पास कोई सूचना और निर्देश नहीं है।

एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक, जो आज जिन्दा नहीं हैं, कहते थे कि ज्यादातर संस्थाओं में काम रुटीनी और दोहराव वाला होता था, जैसे मरे हुए घोड़े को दौड़ाना, समस्या का कोई हल कभी हाथ नहीं आता। इन संस्थाओं से अधिकांश प्रकाशित सामग्री पहले से प्रकाशित पेपरों की समीक्षा मात्र होती हैं। प्रत्येक संस्था से नियमित रूप से सिफारिशें की जाती हैं, आईसीएमआर में एक सलाहकार समिति द्वारा इस पर चर्चा की जाती है, और फिर स्वास्थ्य मंत्रालय और अन्ततः सरकार को भेजा जाता है, जहाँ ये रिकॉर्ड में दर्ज कर लिए जाते हैं। क्या किया गया है और क्या वे देश की स्वास्थ्य आवश्यकताओं के लिए उपयोगी हैं, इसका कोई मूल्यांकन नहीं किया जाता है। क्या यह जैव चिकित्सा अनुसन्धान में प्रगति का संकेत देता है? ऐसा नहीं है कि विशेष संस्थाओं के साथ कोई समस्या नहीं है। उनके सामने कई अड़चनें हैं। किसी संस्था के बजट का 90 प्रतिशत से अधिक हिस्सा वेतन में चला जाता है। वरिष्ठ पदों पर रिक्तियाँ कभी नहीं भरी जाती हैं। और हमेशा सेवानिवृत्त वैज्ञानिकों को सलाहकार के रूप में नियुक्त कर लिया जाता है। एक संस्था का निदेशक प्रशासनिक और वैज्ञानिक दोनों तरह की समस्याओं का सामना करता है। यदि जापानी इन्सेफेलाइटिस और अब कोविड-19 जैसी महामारी से बहुत से लोग मर जाते हैं, इसका मतलब हुआ कि ये संस्था संकटों का सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं।

अनुसन्धान का सामाजिक मूल्य

प्रो ए एस पेण्टल, जो 1990 में आईसीएमआर के डायरेक्टर जनरल के पद से सेवानिवृत्त हुए, वे वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के बीच प्रयोजन के अभिप्राय का परिचय देना चाहते थे। वे प्रकाशित पेपरों की संख्या और उनके उद्धरणों के आधार पर किसी वैज्ञानिक के कार्य-प्रदर्शन का आकलन करने को लेकर काफी आलोचनात्मक थे। उन्होंने कहा, " बहुत जगहों पर एक सामान्य नियम के रूप में अब इसे नहीं माना जाता ... यह ज्यादा जरूरी क्षेत्रों (जैसे कुष्ठ रोग, जिसका पश्चिम के लिए कोई मूल्य नहीं) में कामों को कम महत्त्व देता है। इसलिए, यह ठीक है कि ऐसे वैज्ञानिकों का मूल्यांकन अन्य मानदण्डों के आधार पर किया जाता है, जैसे कि उनके काम की उपयोगिता भारतीय एसएण्डटी (विज्ञान और प्रौद्योगिकी) और सामाजिक मूल्य के लिए कितनी है। वास्तव में, इन मानदण्डों के एक विवेकपूर्ण मिश्रण के आधार पर यह उचित निर्णय लेना सम्भव है कि सबसे अच्छा 'टमाटर' सर्वश्रेष्ठ 'आलू' से बेहतर होता है... यहाँ तक कि एक ही संस्था के भीतर भी। इस तरह के दृष्टिकोण यह सुनिश्चित करते हैं कि कुछ लोग जिन्होंने अपने समय का एक बड़ा हिस्सा वैज्ञानिक संस्थाओं के विकास और रखरखाव के पहलुओं के लिए समर्पित किया है, उन्हें मूल्यांकन प्रक्रिया में नहीं छोड़ा गया है।" यहाँ तक कि उन्होंने वैज्ञानिक मूल्यों के लिए ही सोसाइटी शुरू की। हालाँकि, भारतीय संस्थाओं में आमूल-चूल सुधारों के लिए आईसीएमआर के डी जी और अध्यक्ष के रूप में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (आईएनएसए) के प्रयासों को नकारात्मक प्रतिक्रिया मिली।

जमीनी काम महत्त्वपूर्ण है

शुक्र है कि मलेरिया जैसी बीमारियों के लिए, जो अभी भी भारत के बड़े इलाकों में को प्रभावित करती हैं, राष्ट्रीय वेक्टर बॉर्न डिजीज कण्ट्रोल प्रोग्राम (एनवीबीडीसीपी) को दोष दिया गया है, हालाँकि नियंत्रण रणनीति का कार्यान्वयन राज्य सरकारों के पास है। जापानी एन्सेफलाइटिस एक ऐसा वायरस जनित रोग है जो समय-समय पर हर साल मानसून के मौसम के बाद महामारी के रूप में फैलाता है। हमारे पास आबादी घनत्व की नियमित निगरानी के लिए बुनियादी ढाँचा भी नहीं है क्योंकि मनुष्यों में यह बीमारी मच्छरों की विशाल आबादी के फैलाव का परिणाम है। उन्होंने जापानी एन्सेफलाइटिस और केएफडी (एक अन्य वायरस रोग) के लिए टीके का उत्पादन किया है, लेकिन कार्यान्वयन में कमी के कारण उनकी उपयोगिता सीमित है, और वे बहु-खुराक (मल्टीडोज) टीके हैं।

जमीनी काम के लिए पर्याप्त कीट-विज्ञानशास्त्री उपलब्ध नहीं हैं। जो थोड़े बहुत हैं वे जमीनी काम में नहीं बल्कि कीट-विज्ञान के आणविक पहलुओं पर प्रयोगशालाओं में काम करने के इच्छुक हैं। यह पहलू रोगों के नियंत्रण में राष्ट्रीय कार्यक्रम के लिए चिन्ताजनक है। यहाँ तक कि महामारीविद अपनी आरामकुर्सी के लिए ज्यादा चिन्तित रहते है और कंप्यूटर के माध्यम से समस्या को हल करना चाहते हैं। यह प्रमुख अन्तर था, जब रॉकफेलर यहाँ काम कर रहा था, जहाँ उसके शीर्ष वैज्ञानिक, सभी विदेशी, हर समय जमीनी काम में लगे रहते थे और जमीनी काम में अपने भारतीय समकक्षों के साथ खतरा उठाते थे। उस समय जापानी इन्सेफेलाइटिस और केएफडी जैसी बीमारियों की समझ में प्रमुख प्रगति हुई। मैं उनके साथ जुड़ा हुआ था, 13 वर्षों तक जंगल के वातावरण में रहा और काम किया!

रॉकफेलर के जाने के बाद, हमारी सरकार को अधूरे कामों

को जारी रखना चाहिए था, जैसे कि केएफडी के प्राकृतिक चक्र में चमगादड़ों की भागीदारी। अब, चमगादड़ (बैट) को कोविड-19 में महत्त्वपूर्ण दिखाया गया है। हमने बहुत समय खो दिया है। केएफडी में, तीन महत्त्वपूर्ण चक्र हैं-- चमगादड़-चमगादड़ चक्र; छोटे स्तनपायी-छोटे स्तनपायी चक्र; और बन्दर-मनुष्य चक्र। जब भी मानव बीमारी के साथ बन्दर की मौत का वाकया बताया जाता है, जैसा कि पश्चिमी घाटों में अक्सर कई इलाकों में होता है, संस्था एक टीम को मौके पर भेजती है, जो नियमित अध्ययन करती है, लेकिन वह भी केवल तीसरे पहलू पर ही ध्यान केन्द्रित करती है, यानी बन्दर-मनुष्य चक्र, पहले दो पहलू, जो सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, पूरी तरह से नजरअन्दाज कर दिये जाते हैं क्योंकि इसमें गहन जमीनी काम शामिल है। वे वायरस के स्रोत में रुचि नहीं रखते हैं कि यह मूल संग्राहक चमगादड़ से छोटे स्तनधारियों और वहाँ से इनसानी आबादी तक कैसे फैलता है। वे जल्दबाजी में एक रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं और सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह एक त्रासदी है कि किसी भी क्षेत्र में बीमारी या वायरस की पूरी जाँच नहीं की जाती है।

कोरोना वायरस महामारी

अब हमारे आसपास कोरोना वायरस, एक महामारी है जो दुनिया भर में लाखों लोगों की जान ले चुका है। आखिरकार जिम्मेदारी किसकी है? एक वायरस (केएफडी) के प्राकृतिक चक्र में चमगादड़ों की भागीदारी 1969 के प्रारम्भ में मेरे द्वारा प्रकाशित की गयी थी। इस बात का कोई सबूत नहीं है कि चमगादड़ों की संग्राहकता की स्थिति पर कोई गम्भीर शोध कार्य किया गया है, खासकर जब खतरनाक वायरस जैसे इबोला, केएफडी , और यहाँ तक कि कोविड-19 को चमगादड़ों के साथ जोड़ा गया है। टाइम्स ऑफ इण्डिया में 23 जुलाई, 2019 को एक भयावह हेडलाइन थी, "इबोला, अन्य वायरल बीमारियों के लिए भारत को तैयार हो जाना चाहिए।" इसने इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च में प्रकाशित एक लेख के हवाले से लिखा है-- "चमगादड़ इस वायरस के प्राकृतिक संग्राहक माने जाते हैं ... भारत चमगादड़ की प्रजातियों की विशाल विविधता का घर है ... " लेकिन इबोला अभी तक भारत नहीं आया है, हालाँकि इसके आने की पूरी सम्भावना है, लेकिन चमगादड़ में रुचि कम हो गयी है।

शेडोंग प्रान्त के विश्वविद्यालयों में उभरते संक्रामक रोगों के इटियोलॉजी और महामारी विज्ञान के प्रमुख प्रयोगशाला के एक प्रोफेसर वेइफेंग शी ने कहा कि "कोविड 2019 एक बहुत ही कम अवधि के भीतर किसी स्रोत से उत्पन्न हुआ था और अपेक्षाकृत जल्दी से खोज भी लिया गया।" वायरस की उत्पत्ति के बारे में अधिक जानने के लिए, शोधकर्ताओं ने सार्स-कोवी-2 आनुवंशिक अनुक्रम की तुलना पुस्तकालय में उपस्थित वायरल अनुक्रमों से की और पाया कि सबसे निकट सम्बन्धी वायरस दो कोरोना वायरस थे जो चमगादड़ों में उत्पन्न हुए थे, एक घोड़े के नाल जैसी चमगादड़ और दूसरी राइनोफस साइनिकस। कोई यह समझ सकता है कि स्वास्थ्य अधिकारी पूरी तरह से महामारी का मुकाबला करने में लगे हुए हैं। लेकिन एक शोधपरक नजरिये से देखें तो कहीं कुछ भी गम्भीर नहीं लगता।

कोरोनो वायरस के प्राणीजन्य पहलू

बीबीसी के पर्यावरण संवाददाता ने 29 जुलाई को ग्लासगो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेविड रॉबर्टसन के काम पर रिपोर्ट दी, जिन्होंने कहा है कि कोरोना वायरस कई दशकों से चमगादड़ों के बीच घूम रहा है। यह वास्तव में चौंकाने वाला है कि कोरोना वायरस के प्राणीजन्य पहलुओं पर किये जा रहे किसी भी काम का कोई सबूत नहीं है, खासकर तब जब इबोला जैसे वायरस का चमगादड़ से जुड़ा होना स्वीकार किया गया है। चीन और दुनिया भर में नये कोरोना वायरस के प्रसार के साथ, वैज्ञानिक इसकी उत्पत्ति का पता लगाने का प्रयास कर रहे हैं। हालाँकि, एक हालिया अध्ययन से पता चलता है कि विभिन्न प्रजातियों के चमगादड़ में से राइनोफस साइनिकस सबसे सम्भावित मेजबान हो सकते हैं। चूँकि 2003 में चमगादड़ों को सार्स के वाहक के रूप में दिखाया गया था, इसलिए न केवल कई गम्भीर तीव्र श्वसन सिण्ड्रोम-सम्बन्धी कोरोना वायरस (सार्स-कोवी) को चमगादड़ से अलग किया गया है, इन स्तनधारियों को मर्स, इबोला वायरस, मारबर्ग वायरस, हेण्ड्रा वायरस और निप्पा वायरस जैसे 100 से अधिक अन्य विषाणुओं के प्राकृतिक संग्राहक के रूप में मान्यता दी गयी है।

चमगादड़ क्यों और कैसे इतने सारे वायरस ले जाने और फैलाने में सक्षम हैं? वुदान यान ने बताया कि (1) चमगादड़ की झुण्ड में रहने वाली जीवन शैली वायरस के फैलाव के लिए एक आदर्श स्थिति है; (2) चमगादड़ की प्रजातियों में जबरदस्त विविधता, जो सभी स्तनधारियों का लगभग 20 प्रतिशत है; (3) चमगादड़ दूर-दूर तक उड़ते हैं, वायरस को अधिकांश स्तनधारियों की तुलना में अधिक क्षेत्रों में ले जाते हैं; और (4) ऊँची उड़ान द्वारा निर्मित प्रतिरक्षा और शरीर का तापमान। शी झेंगली ने पहले ही चमगादड़ को कोविड-19 का सम्भावित संग्राहक बताया था। उन्होंने वायरस को घोड़े की नाल जैसी चमगादड़ और राइनोफस साइनिकस (राजगोपालन, 2020) से अलग कर दिया है। कोरोनो वायरस के प्राणीजन्य पहलुओं पर किसी भी गम्भीर दीर्घकालिक अध्ययन करने के लिए किसी भी शोध संगठन द्वारा कोई रुचि या प्रयास दिखाई नहीं देता है।

यह उचित समय है कि देश के प्रमुख बायोमेडिकल रिसर्च संगठन, आईसीएमआर, कोविड-19 सहित अन्य बीमारियों के व्यापक प्राणीजन्य पहलुओं पर विस्तृत और दीर्घकालिक अध्ययन

शुरू करें। यह नीतियों और कामों के सफल विकास के लिए आवश्यक है जो लक्षित निगरानी और रणनीतिक रोकथाम के लिए भविष्य के प्राणीजन्य उद्‌भव की सम्भावना को कम करते हैं, और सबसे ऊपर, चिकित्सा समुदाय के बाहर के कर्मियों को भी शामिल करके जिसमें पारिस्थितिकीविद, वन्यजीव जीवविज्ञानी, पशु चिकित्सक और यहाँ तक कि प्रबन्धन और सामाजिक वैज्ञानिकों को आपस में जोड़ा जा सकता है।

2 अगस्त को लिखे एक लेख में, द हिन्दू नेचर माइक्रोबायोलॉजी से एक उद्धरण देता है-- "नॉवेल कोरोनावायरस (सार्स-कोवी-2) जो अब तक 170 लाख से ज्यादा को संक्रमित कर चुका है, और दुनिया भर में लगभग 7 लाख लोगों को मार चुका है, दशकों से चमगादड़ों में एकतरफा घूम रहा है। नॉवेल कोरोन वायरस के लिए चमगादड़ प्राथमिक संग्राहक रहे हैं। बंगलुरू स्थित नेशनल सेण्टर फॉर बायोलॉजिकल साइंसेज के निदेशक प्रो सत्यजीत मेयर कहते हैं-- चमगादड़ों की कई प्रजातियाँ कई वायरस को अपने ऊपर टिकाये रखती हैं जो नये मेजबानों को पास की जा सकती हैं। जब हम उनके आवासों को नष्ट करते हैं, तो हम इस तरह के खतरों का सामना करेंगे। चमगादड़ों का अध्ययन करने वाले नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ वायरोलॉजी में विशेषज्ञ क्यों नहीं हैं?

दुर्भाग्य से, वर्षों से, भारत में विज्ञान प्रशासन की हालत अजीबो-गरीब हो गयी है। अब भी, हम विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की नकल करते हैं। वे अमूर्त निकाय हैं-- उनके वैज्ञानिकों को किस देश का कितना कोटा है इसके अनुसार नियुक्त किया जाता है। वे समितियों में मतदान करके सर्वसम्मति से काम करते हैं। समझौता कराया जाता है। डब्ल्यूएचओ की तरह, हम विभिन्न रिपोर्ट भी तैयार करते हैं। बुनियादी कच्चे डेटा को गाँव और ब्लॉक स्तर पर एकत्र किया जाता है (परिणाम अक्सर फर्जी होते हैं), और ये जिले, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर पदानुक्रम में अलग-अलग स्तरों से गुजरते हैं जहाँ इसका निरीक्षण किया जाता है और अन्त में डब्ल्यूएचओ को भेजा जाता है, जहाँ ये शुद्ध किये जाते हैं। यह एक अफसोस की बात है कि विकासशील देशों में नियंत्रण उपायों की योजना के लिए, इस तरह के डेटा ही आधार होते हैं।

कई बहुराष्ट्रीय दवा निर्माताओं को डब्ल्यूएचओ के अच्छे कार्यालयों के माध्यम से विकासशील देशों में अपने उत्पादों का परीक्षण करना आसान लगता है। नेचर पत्रिका ने एक बार लिखा था कि डब्ल्यूएचओ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का सेल्स मैनेजर है। इसके अलावा उन्हें विकासशील देशों में प्रायोजित करने का काम भी करता है, जैसे-- टीका परीक्षण, नये कीटनाशकों का परीक्षण, नयी तकनीकों का अनुप्रयोग आदि। कल्पना कीजिए, एक संस्था ने किसी खास अनुसन्धान के लिए एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा निर्मित फाइलेरिया-विरोधी दवा का लम्बे समय तक अस्पताल आधारित परीक्षणों को अंजाम दिया, जिसकी हाल ही में पैरासिटोलॉजी टुडे (एक ब्रिटिश वैज्ञानिक पत्रिका) ने न सिर्फ निन्दा की बल्कि बताया कि यह खतरनाक भी है। अब केवल स्पॉन्सर (प्रायोजित) आधारित शोध होते हैं!

विदेशों की कई कीटनाशक कम्पनियाँ डब्ल्यूएचओ कीटनाशक मूल्यांकन योजना (डब्ल्यूएचओपीइएस) से अनुदान लेकर भारत में अपने उत्पाद का परीक्षण करवाती हैं। प्रभावी रूप से और अच्छी तरह से परीक्षण किये गये देशी तरीके से उत्पादित जैव-कीटनाशकों को चलन में लाने तक का काम बहुत कठिन होता है। वे हर स्तर पर असंख्य बाधाओं का सामना करते हैं और शीर्ष स्तर पर किसी भी बाधा को दूर करने की कोशिश नहीं की जाती है। आईसीएमआर का मुख्यालय एक बड़े प्रशासनिक कार्यालय की तरह दिखता है।

भारत की प्रकाशन वृद्धि दर

अब मैं "स्टेटस ऑफ इण्डिया इन साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी" के एक पेपर का सन्दर्भ देता हूँ, यह भारत को स्कोपस इण्टरनेशनल डाटाबेस 1996-2006 में आये परिणाम के आधार पर देखता है। यह पेपर राष्ट्रीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और विकासात्मक अध्ययन संस्थान के बी एम गुप्ता और एस एम धवन द्वारा लिखा गया है। इसकी सामग्री कई खुलासा करती है। केवल प्रकाशनों को ध्यान में रखा जाये, तो चीन की 21 प्रतिशत की तुलना में हमारी वार्षिक औसत विकास दर 7 प्रतिशत थी। भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान और इंजीनियरिंग विज्ञान में भारत के राष्ट्रीय प्रकाशनों की हिस्सेदारी प्रत्येक विषय में वैश्विक औसत के बराबर रही है। लेकिन स्वास्थ्य विज्ञान में, इसका हिस्सा वैश्विक औसत से बहुत कम था।

प्रस्तुत आँकड़ों के एक विस्तृत अध्ययन से पता चला है कि भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में उच्च उत्पादकता वाली 35 संस्थाएँ थीं और अफसोस की बात है कि आईसीएमआर उनमें शामिल नहीं है। काम करने लायक भारतीय वैज्ञानिकों की एक सूची में आईसीएमआर से कोई शामिल नहीं था। लेखकों ने भारत के 50 पेपरों का उल्लेख किया, जो आईसीएमआर के अपने समकक्षों की तुलना में ज्यादा प्रशंसा के पात्र बने। इनमें से 28 पेपरों में भारतीय संस्थाओं के प्रमुख लेखक हैं जबकि शेष 22 पेपरों में एक प्रमुख लेखक विदेशी संस्था के थे। इन 50 बेहतरीन पेपरों में से 25 में भारतीय संस्थाओं की भागीदारी थी (आईसीएमआर शामिल नहीं)। यह उन लोगों के लिए बहुत दुखद है जिनकी आईसीएमआर में दिल से रुचि है और जिन्होंने आईसीएमआर के साथ जीवनभर काम किया है।

लेकिन अब हम कहाँ हैं? अब रुझान परियोजना और पेपर छापने के लिए अनुसन्धान और प्रतियोगिता की ओर है, न कि समस्या को ध्यान में रखकर अनुसन्धान की ओर। कठोर मेहनत

के काम की जगह कृत्रिम, व्यावसायिक रूप से उपलब्ध और आसानी से संचालित होने वाली टेस्ट किट के साथ, कंप्यूटर से लैस वातानुकूलित प्रयोगशालाओं में आरामदायक शोध का रास्ता अख्तियार कर लिया गया है। अब जोर पेपर छपने की संख्या पर है, परियोजना से अनुदान राशि लेने पर है और अपने नीचे ज्यादा से ज्यादा पीएचडी की संख्या बढ़ाने पर है। अब सबकी सीमा तय है। हमारी समस्याओं को हल करने के लिए और अधिक साहस या जिज्ञासा के कोई मायने नहीं हैं। क्या हमने अब तक कोई स्वास्थ्य समस्या हल की है? अब कोई लम्बे खिंचने वाले शोध नहीं है। जमीनी काम तो बचा ही नहीं है। तमाम नियम कानूनों द्वारा वैज्ञानिकों पर बहुत सारे प्रतिबन्ध हैं। इकोलॉजी, एपिडेमियोलॉजी, एण्टोमोलॉजी और जूनोस जैसे विषयों पर कोई काम कैसे किया जा सकता है? हमारा देश कभी भी जैव चिकित्सा अनुसन्धान के क्षेत्र में कैसे प्रगति कर सकता है?

हर जगह लाल-फीताशाही है। उदाहरण के लिए डॉ शिवा अय्यादुरई, जो एक भारतीय-अमरीकी वैज्ञानिक थे, हमारे प्रधानमंत्री द्वारा भारत वापस आने के लिए किये गये आह्वान पर वे भारत लौटे। उन्हें उच्च प्रशासक अधिकारियों ने कुछ भी ढंग का करने न दिया। यह नेचर और कई विदेशी प्रकाशनों में खूब छापा गया था। भारतीय नौकरशाही के खिलाफ अपना सिर पीटने के बाद वह वापस संयुक्त राज्य अमरीका चले गये। हिटलर के जर्मनी से कई वैज्ञानिकों ने गुणवत्तापूर्ण अनुसन्धान करने की स्वतंत्रता के लिए जर्मनी छोड़ दी थी। यही भारत में हो रहा है।

चीन अब वैज्ञानिकों को लालच दे रहा है, उन्हें पद और महत्त्व दे रहा है। चीन अब स्टेम सेल अनुसन्धान जैसे क्षेत्रों में नेतृत्वकारी भूमिका में है। ऐसा ही एक वैज्ञानिक जो चीन लौट आया और पीकिंग विश्वविद्यालय का डीन बन गया, उसने चीन की "आत्मा की खोज" को अमरीका की "आत्म सन्तुष्टि" के साथ जोड़ा। क्या भारत को भी "आत्मा की खोज" नहीं करनी चाहिए? यह तर्क कि चीन अधिनायकवादी है जबकि हम अपने लोकतंत्र में भी अव्यवस्थित हैं, बहुत अच्छा नहीं है। हमें अच्छे नेतृत्व, समर्पण, अनुशासन और दृढ़ संकल्प की जरूरत है। क्या आईसीएमआर गुणवत्तापूर्ण अनुसन्धान में भारतीय विज्ञान संस्था या टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च जैसे प्रमुख संस्थाओं का अनुकरण कर सकता है?

यह एक यूटोपिया, एक सपना है।

(डॉ. पी के राजगोपालन वेक्टर कण्ट्रोल रिसर्च सेण्टर, पाण्डिचेरी, इण्डियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च के पूर्व निदेशक रहे हैं।)

अनुवाद-- राजेश कुमार

थूकम-फजीहत

एक तानाशाह की लोकप्रियता जब कुछ कम होने लगी तो उसे चिन्ता होने लगी। उसने अपने सलाहकारों की एक मीटिंग बुलाई और कहा कि ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे मेरी लोकप्रियता बढ़ सके।

सलाहकारों ने तरह-तरह के उपाय बताये। अन्त में एक उपाय को स्वीकार कर लिया गया कि तानाशाह के फोटोवाला डाक टिकट छापा जाये।

डाक टिकट छापा गया और बिक्री के लिए उसे जारी कर दिया गया।

कुछ दिन बाद तानाशाह ने पोस्ट मास्टर जनरल को तलब किया कि डाक टिकट की बिक्री का क्या हाल है?

पोस्ट मास्टर जनरल ने कहा-- "टिकट तो बिक रहा है..लेकिन।"

तानाशाह खुश हुआ। फिर रुक कर बोला-- "लेकिन क्या?"

पोस्टमास्टर जनरल ने कहा-- "लोगों की शिकायत है कि टिकट चिपकता नहीं है।"

तानाशाह गुस्से में चिल्लाया-- "तुम लोगों ने मेरे ही टिकट में गोंद कम लगाया। मैं तुम सबको फाँसी पर लटका दूँगा।"
पोस्टमास्टर जनरल ने कहा कि सर, गोंद तो उसमें अन्य टिकटों से भी ज्यादा लगाया है लेकिन ..."

"हाँ तो फिर चिपकता क्यों नहीं है?"

पोस्ट मास्टर ने डरते-डरते कहा-- "लोग थूक गलत साइड से लगा रहे हैं।"

(कवि-- राजेश जोशी की पुस्तक "वह हँसी बहुत कुछ कहती थी" से साभार, मार्फत-- विष्णु नागर, जिसका प्रकाशन सेतु प्रकाशन ने किया है।)